मीरा विष-पान

मतवाली मीरा

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

अष्ठम् संस्करण
२००० प्रति } चैत्र शु० २०३७ { मूल्य ५)
४ रुपया

● प्रकाशक
संकीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, (झूसी)
प्रयाग
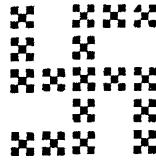
● मुद्रक
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

विषय-सूची

समर्पण

गिरिधरलालजी !

भीतर अन्तःपुर में तो मुझे आने का अधिकार ही नहीं। मैं दास तो ठहरा, मीरा से तो मेरा बहिन का नाता है। तुमसे क्या है पता नहीं ?

मैंने एक गीली मिट्टी की माला बनाई है। उसमें मीरा की 'अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि' से कुछ फूल तोड़कर खोंस दिये हैं। तुम बाहर आकर इसे पहिन लोगे क्या ? मेरी कारीगरी के नाते नहीं, अपनी प्रियतमा के नाते। प्रिय की तो सभी चीजें प्यारी होती हैं। 'मीरा कभी एकान्त में देखेंगी तो सम्भव है प्रसन्न होकर तुमसे मेरी कुछ चर्चा कर दें। बस, मैं इतने से ही प्रसन्न हो जाऊँगा। क्यों आओगे तनिक बाहर ? करोगे इतना कष्ट ? स्वीकारोगे इस बावले के अजीब उपहार को ?

पुराण सत्र मण्डप
भूसी (प्रयागराज)
भाद्र शुक्ल ७ सं० २००२

तुम्हारा दासानुदास भी
कहलाने का अनधिकारी
प्रभुदत्त

॥ श्रीहरिः ॥

प्राक्कथन

कुछ अपने सम्बन्ध में कुछ मीरा के सम्बन्ध में

वयं कृष्ण महायोगिन् ! भ्रमामः कर्म वर्त्मसु ।
त्वद् वार्तया तरिष्यामः तावकैःदुस्तरं तमः ॥*

सब सन्तन निर्णय कियो, मथि पुराण इतिहास ।
कहिवे को द्वै ही सुघर, कै हरि कै हरिदास ॥

आज से लगभग १०-१२ वर्ष पूर्व ये निबन्ध लिखे गये थे । पीछे इन्हें पुस्तक का रूप दिया गया, किन्तु वह अधूरी ही रह गई । अपने अल्हड़ स्वभाव से वह अब तक अधूरी रही आई । नाना व्यवसायों में चित्त की वृत्ति लगी रहने से इसे पूर्ण करने का विचार ही नहीं आया । इधर हमारी महात्मा कर्ण नामक पुस्तक निकली और वह कुछ ही महीनों में बिक गई । तब चिरञ्जीव अनन्त राम का आग्रह हुआ कि 'मीरा' वाली पुस्तक भी पूर्ण करके छाप दी जाय । बीच-बीच में कई बार ऐसा प्रसङ्ग आया भी, किन्तु कभी नियम, कभी अनुष्ठान, कभी उपवास और कभी महोत्सव इनमें लगे रहने से इसकी बारी ही न आई । जब पुस्तक अधूरी ही छपने लग गई और निश्चय हुआ कि अमुक तिथि तक अवश्य निकलेगी, तब मैंने जल्दी-जल्दी में अन्त के दो अध्याय अपने अनुष्ठान से समय निकालकर लिख दिये और अब यह उसी रूप में पाठकों के सामने आ रही है । १०-१२ वर्ष में 'मीरा' के सम्बन्ध में बहुत-सी खोजें हुई हैं, उनके ऊपर कई

---

* हे महायोगी कृष्ण ! हम कार्य पथ में भटक रहे हैं । इस दुस्तर अन्धकार को हम तुम्हारी गुण-गाथा का गान करके ही पार कर सकेंगे ।

नये ग्रन्थ बने हैं, सुनते हैं मारवाड़ में उनका कोई बड़ा भारी स्मारक बना है और बहुत से गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं।

कई बार इच्छा हुई कि इस सब सामग्री को एकत्रित करके 'मीरा के' सम्बन्ध में फिर से कोई नया ग्रन्थ लिखा जाय, किन्तु मुझसे ऐसा कहाँ हो सकता है। अन्त में यह निर्णय हुआ कि जैसा भी कुछ है। वैसा ही प्रकाशित हो जाय। आगे फिर देखा जायगा। इसलिये इनमें बहुत त्रुटियाँ होंगी ही। वह सब पाठकों की कृपालुता और सारग्राहिता के सम्मुख क्षम्य हो ही जायँगी।

'मीरा' के सम्बन्ध में कुछ लिखना मेरा बाल्य-चापल्य ही है। मुझ जैसा नीरस व्यक्ति, जो सदा धर्म-कर्म में ही लगा रहता है उस प्रेम की सजीव मूर्ति रस-रूपा देवी के सम्बन्ध में कह ही क्या सकता है। ब्रजाङ्गनाओं के सम्बन्ध में हम केवल पढ़ते ही थे, किन्तु इस प्रेमोन्मादिनी ने तो वे सब दशायें संसार के सामने प्रत्यक्ष प्रकट करके दिखा दीं। मीरा का प्रेम निश्छल है, निष्कपट है, स्वाभाविक है। उसमें बनावट दिखावट तथा प्रदर्शन की भावना की गन्ध भी नहीं। उसने कविता के लिये कविता नहीं की, गाने के लिये गीत नहीं बनाये, उसने तो अपने हृदय की आहों से अपने प्राणवल्लभ को रिझाया है, उन्हें ही अपना दुःख दरद सुनाया है। उसे अब आप चाहें कविता कह लें या गीत, वास्तव में वे उसकी आहें हैं, अन्तर्ज्वाला के कण हैं, हृदय के सजीव मूर्तिमान उद्‌गार हैं। यद्यपि मैं प्रेमी नहीं, प्रेम की साँकरी गली की ओर कभी निकला नहीं। फिर भी इन प्रेम के पागलों की बातें कुछ-कुछ मुझे भाती हैं, वे मेरे पत्थर जैसे, फौलाद जैसे, कठोर हृदय पर अपना कुछ-कुछ प्रभाव डालती हैं। मैंने देखा है कलिपावनावतार महाप्रभु चैतन्यदेव और मीराबाई के जीवन में कितना बड़ा साम्य है। दोनों के ही जीवन में एक-सी मस्ती

है, एक-सी तन्मयता है, एक-सी भावुकता है। दोनों के हृदय में प्रेम की एक-सी हिलोरें उठ रही हैं और एक-सा ही बवण्डर आया हुआ है दोनों के ही आराध्य वे ही श्यामसुन्दर नटवर गिरिधारी, मुरलीधारी, बनवारी हैं। दोनों की ही उपासना मधुर रस की है। दोनों ही गिरिधर नागर में कान्त-भाव रखकर उनके मिलन, अङ्ग-स्पर्श, चुम्बन, परिरम्भण के लिये छटपटाते हैं, बिल-लाते हैं, अधीर होते हैं, दोनों के ही हृदयों को विरह के बाण ने वेधकर बड़ा-सा व्रण बना दिया है। उसकी वेदना में दोनों एक तरह छटपटाते हैं, चिल्लाते हैं, विलाप करते हैं। दोनों ने ही स्वजन, परिजन, गुरुजनों को त्यागकर, संसार से वैराग्य धारण करके एकान्त भाव से अपने आराध्य देव को रिझाया। दोनों ने ही अपने प्यारे के दो महाधामों में—एक ने जगन्नाथपुरी में, एक ने द्वारिकापुरी में—जाकर अपना निवास बनाया। दोनों ही एक समय में एक काल में उत्पन्न हुये। सम्भव है वे स्थूल शरीर से परस्पर न मिले हों, किन्तु दोनों का ही मन परस्पर मिला रहता था। मीरा ने तो महाप्रभु के सम्बन्ध का एक गीत भी गाया है। आश्चर्य तो यह है कि दोनों ही प्रायः समान काल में इस अवनि पर प्रकट रूप में रहे। दोनों ने ही लगभग ५०-५० वर्ष इस स्थूल शरीर को धारण किया और अन्त में दोनों एक ही रूप से अन्तर्धान हुए। एक तो श्री जगन्नाथ जी के श्री विग्रह में सशरीर विलीन हो गये। उधर वह भी इस देह सहित अपने इष्टदेव श्री श्यामसुन्दर द्वारिकानाथ के श्रीअङ्ग में एकीभूत हो गई।

कैसा आश्चर्यजनक साम्य है। इन दोनों के जीवन में। मानों एक ही पदार्थ दो भागों में विभक्त हो गया, एक ने बङ्गदेश को अपनी लीला-भूमि बनायी, दूसरे ने मारवाड़ देश को धन्य

बनाया। बङ्ग भूमि भावमयी भूमि है, वहाँ भावुकता का प्राबल्य है। बङ्गवासी स्वभाव से ही ललित कलाओं के उपासक होते हैं। उनका हृदय रसमय होता है। सङ्गीत उनका स्वभाविक गुण है, उनका जीवन सङ्गीतमय होता है। पर्वों में, उत्सवों में, दैनिक जीवन में सर्वत्र वहाँ सङ्गीत का साम्राज्य है। वे जिसे बढ़ाते हैं पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं। उनमें ऐसी क्षमता है। यदि कहीं 'मीरा' का जन्म बंग देश में हुआ होता तो आज उसके ऊपर सैकड़ों हजारों बड़े-बड़े ग्रन्थ बन जाते। उसके पदों की भाँति-भाँति से आलोचना होती। उसके अनेक स्मारक बनते और न जाने क्या-क्या होता। किन्तु उसने मारवाड़ जैसे बालुकामय प्रदेश को अपनी जन्म भूमि बनायी। जो कर्म-प्रधान देश है, जहाँ वीरता का साम्राज्य है, जहाँ किसी को ऊँचा उठाना तो अलग रहा, उसे पछाड़ देने की बात सोची जाती है, जहाँ के ऋषि साक्षात् श्रीकृष्ण को भी शाप देने को तैयार हो गये कि तुमने महाभारत युद्ध क्यों कराया, वहाँ मीरा के महत्व को प्रकट करने का प्रयत्न कौन करता। यद्यपि मीरा राजवंश में पैदा हुई, एक बड़े राज्य में विवाही गई तो भी उसके प्रति ऐसी उदासीनता। ये राज्य चाहते तो उसके लिये न जाने क्या-क्या करते। अभी तक उसके पदों का पता नहीं चला, उनके ग्रंथ भी अभी प्रकाशित नहीं हुए और न उनकी जन्मतिथि का ही ठीक-ठीक पता चला। यह कितनी लज्जा की बात है।

जहाँ तक मुझे पता है, मीरा के भावों का प्रचार करने के लिये न कोई सभा है, न मीरा के नाम से कोई सम्प्रदाय ही चलता है, किन्तु इन सबके न होते हुए भी उसने सम्पूर्ण भारत में और विदेशों में अपना घर कर लिया है। 'मीरा' हमारे घर की बन गई है। उसके पदों ने आज से नहीं सैकड़ों वर्षों से देश

के कोने-कोने में अपना साम्राज्य जमा लिया है। श्रीमन्महा प्रभु चैतन्य का विशेष प्रचार बङ्गाल में ही हुआ। बंगाल के बाहर तो उनका नाम इधर २०-२५ वर्षों से ही प्रकट होने लगा है। श्री वृन्दावन धाम से, जहाँ हजारों उनके सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, उस सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार हुआ। कुछ बङ्गालियों और उन्हीं सम्प्रदाय वालों को छोड़कर सर्व साधारण में उनका नाम भी कोई नहीं जानता था स्वयं मैं ही इतने दिन व्रज में रहा, वहीं पढ़ा वहीं पैदा हुआ, फिर भी अपनी अवस्था के सत्रहवें वर्ष में मैंने महाप्रभु का नाम सुना। महाप्रभु ने स्वयं कृपा करके जीवों के हृदय में अपने नाम के प्रति अनुराग उत्पन्न किया है। किन्तु मीरा तो गुजरात, मारवाड़, व्रज, पंजाब तथा समस्त देशों में स्वतः ही अपनी भावना से आज लगभग ४०० वर्ष से फैल गई। घर-घर में उनके गीत बड़े चाव से गाये जाते हैं। उनके भजनों में ऐसी मोहकता है कि वे अपने आप हृदय में स्थान कर लेते हैं। उसमें इतनी मिठास है कि हृदय पिघलने लगता है। वैसे तो मीरा के पदों का मैंने मातृस्तनों के साथ ही पान किया है, किन्तु एक बार मैंने मीरा का एक पद सुना, जिसने मेरे हृदय पर विचित्र प्रभाव डाला।

यह लगभग २१-२२ वर्ष पहिले की बात है। तब मैं काशी में एक हिन्दी मासिक पत्र का सम्पादक था। हिन्दू कालेज में महामना मालवायजी के द्वारा हिन्दू सभा का एक बड़ा भारी उत्सव हुआ। काशी नरेश उसके सभापति थे। हजारों की भीड़ थी। भीड़ में कुछ कोलाहल हुआ, उसी समय एक बंगाली युवक खड़ा हुआ। अब उसका नाम तो मुझे याद नहीं रहा। परिचय में बताया गया था कि ये जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में सङ्गीत की उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटे हैं इकहरा

शरीर था, गौर वर्ण था, युवावस्था थी। उसने मीरा का एक भजन गाया—

म्हाने चाकर राखो जी गिरिधारी लाल।

भगवान् ने उस बङ्गाली युवक को कैसा अद्भुत कण्ठ दिया था। हजारों की भीड़ स्तम्भित हो गई। एक सुई भी डालो तो उसकी आवाज सुनाई दे। अब मुझे ठीक-ठीक याद तो रहा नहीं कि वह बेला पर गा रहा था, या हरमोनियम पर, किन्तु वह तन्मय हो गया था। पद के अन्त का शब्द जनता अपने आप कह उठती है। गाते-गाते जब उसने यह कड़ी गाई—

ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ बिच-बिच राखूँ बारी।
सामलिया के दरसन पाऊँ ओढ़ी कुसुम्बी सारी॥

अहो उस समय वह अपने आपे में नहीं रहा, एकदम बिखर गया, जनता वाह-वाह चिल्ला उठी। फिर सुनाइये, फिर सुनाइये। पता नहीं कितने बार उसने सुनाया मेरे हृदय पर उसका विचित्र प्रभाव पड़ा। उसकी ध्वनि अब तक मेरे कानों में गूँज रही है। किसी पुरुष गायक के मुख से मीरा का यह पद फिर उस तरह सुनायी नहीं दिया।

वैसे तो मीरा के पदों को जो भी गावे, उसी के मुख से अच्छे लगते हैं। किन्तु इनकी यथार्थता तो नारी कण्ठ से ही प्रकट होती है, क्योंकि उसने कविता नहीं बनाई, अपना हृदय काढ़कर रखा है, अपनी कसक को ही सजीव साकार रूप दे दिया, उसमें चाहे कवित्व के वाह्य गुण न भी हों, किन्तु अन्तःकरण की आह है, जिसे नारी हृदय ही अनुभव करके गा सकता है। किस शब्द में कहाँ लोच देना है, कहाँ किस भाव से स्वर उठाना है, यह सीखने की चीज नहीं

पुरुष गायक नारी हृदय भीतर रखे बिना उसे व्यक्त ही नहीं कर सकता।

कितनी बार अनेक बहिनों के मुख से मीरा के पदों को सुनकर मेरी फूटी आँखें बही हैं, कितनी बार नीरस हृदय वाला मैं मीरा के हृदय-वेधी पदों को सुनकर रोया हूँ। इसे यहाँ कैसे बताऊँ। एक राज परिवार की बहिन थी, जब वह अपने कण्ठ से मीरा के इस पद को गाती और स्वयं भी उसमें तन्मय होकर रोने लगती तो ऐसा वहाँ कोई भी न होता जो रोने न लगता। उससे अनेक बार मैंने यह पद सुना—

नन्दनन्दन बिलमाई, बदरा ने घेरी आई।
इत घन गरजे उत घन गरजे चमकत बिज्जू सवाई।
उमड़-उमड़ चहुँदिशि ते आयो, पवन चले पुरवाई॥
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल शब्द सुनाई।
मीरा के प्रभु गिरिधरनागर, चरणकमल चितलाई॥

कुछ बहिनें आकर मिलकर इस पद को अनेक बार अपनी करुणा भरी वाणी से गातीं—

हाँ कोई कहियो रे, कोई कहियो रे, पिया आवन की।
आवन की मनभावन की—कोई कहियो रे..............॥

जब गाते-गाते इस कड़ी को गातीं—

आप न आवै लिख नहिँ भेजें, बानि पड़ी ललचावन की।

तब सबके नेत्र सजल हो जाते।

मीरा के पदों में एक बड़ी विशेषता है। उनमें प्रान्तीयता नहीं। यद्यपि उनमें मारवाड़ के शब्द हैं, किन्तु जो भी गाता है ऐसा लगता है मानो मीरा उसी के प्रान्त की थी। जब गुजराती बहिन गाती है तो बिल्कुल ऐसा लगता है कि छींट की ओढ़नी

ओढ़े बहिन गुजराती मीरा गा रही है, जब मारवाड़ की गाती हैं तो मारवाड़ी, यहाँ तक कि बङ्गाली, मद्रासी बहिनों के कण्ठों से भी ऐसा ही लगता है। अभी हाल में हम बङ्गाल की यात्रा में गये। वहाँ अनेक गायकों ने और बहुत-सी बहिनों ने हमें मीरा के पद सुनाये। बङ्गाली बहिनों के करुण कण्ठ से मीरा के पद मूर्तिमान करुणा का रूप धारण करके बोलने लगते हैं।

अभी इन्हीं गत जाड़ों में हमने दक्षिण की यात्रा की। तीन बार मैं दक्षिण की यात्रा में गया हूँ। तीनों बार वहाँ नर-नारियों ने मुझे अपने स्नेह में सराबोर कर दिया है। दक्षिण देश भक्ति की जननी है, वहाँ भगवती भक्ति उत्पन्न हुई हैं। भारतीय संस्कृति की अब भी यत्किञ्चित् रक्षा दक्षिणात्यों ने विशेषकर वहाँ की माताओं ने कर रखी है। दक्षिण ने भक्ति मार्ग के बहुत से आचार्यों को उत्पन्न किया है। दुःख है कि उधर हिन्दी का जितना प्रचार होना चाहिये नहीं हुआ। वैसे वहाँ के लोग यहाँ के भक्ति साहित्य की जानकारी के लिये बड़े लालायित हैं।

अब के श्री रामेश्वर में ही श्री नटेश जी पहुँच गये। आप मदरास में जिला बोर्ड के दफ्तर में किसी प्रतिष्ठित पद पर हैं। यात्रा भर वे हमारे साथ रहे। वे ही हमें मदुरा में, पद्मालय में श्री विश्वनाथन् जी के यहाँ ले गये। माताजी के प्रेम ने हमें निहाल कर दिया। दूर के ढोल सुहावने होते हैं, श्री विश्वनाथन् जी ने मेरी 'चैतन्य चरितावली' का तामिल भाषा में अनुवाद किया है। उसी के सम्बन्ध से उनसे बहुत पहिले से लिखा पढ़ी थी। दर्शन अब के ही हुए। ५-७ दिन हम रहे। कितनी चहल-पहल, कितना आनन्द, कितना उत्सव यहाँ रहा, दूर-दूर से बहुत से भक्त आये। जो आते वे ही हमें मीरा के पद सुनाते। हम

इसका कुछ रहस्य न समझ सके। जो बहिनें हिन्दी बिल्कुल नहीं जानतीं, वे भी मीरा के पद सरलता से गा लेतीं। दक्षिण में वीणा का प्रचार अब भी है, बहुत से लोगों को मैंने मीरा के पद सर्व-साधारण सभाओं में गाते देखा। कूर्मदासजी सब हिन्दी पद ही गाते थे। मैंने समझा मेरे कारण ये लोग मीरा के पद सुनाते होंगे। जब हम श्रीनटेशजी, श्रीशुकम्, शास्त्रीजी, कूर्मदासजी तथा कुम्भकोणम् के भक्त सब मिलकर श्री रङ्गम् आये, तब इसका रहस्य हमें मालूम पड़ा।

श्रीरङ्गम् में जिनके यहाँ मध्याह्न का प्रसाद था, वहीं किसी ने कहा अमुक बहिन को बुला लो। वह दर्शन कर जायगी। कोई भाई दूर गाँव से उसे ले आये। वहाँ की माताओं ने कहा— यह बड़ा सुन्दर गाती है। नटेशजी ने उससे गाने को कहा। कितना सुरीला उस बहन का कण्ठ था। उसने कई स्तोत्र सुनाये और अन्त में ये श्लोक सुन ये—

(१)

वन्दे मोहनमोहनीं सहचरीं श्रीचम्पवल्लीं मुदा।
राधामाधव खेलनामृतरसस्फीतांच पद्मावतीम्॥
श्रीलीलाशुकदेवचित्त कुमुद ज्योत्सनां च चिंतामणिम्।
कृष्णप्रेमतृणीकृतत्रिभुवनां मीरां च मत्स्वामिनीम्॥

(२)

रसिकवर रास रसिकारसना रस सार रन्थने सरसा।
विलसित चम्पकवल्लीं चामीकर वल्लरीव चामरिका॥
राधामाधवनिधुवन मधुरिम साम्राज्य सीमापद पद्मा।
जयदेव सद्म पद्म मदर्यति पद्मावती मुदायहृदय॥

(३)

हरि चिन्तन वितरण चूर्ण चिन्तामणि निकर चरण नख किरण ।
लालाशुक चिन्तामणि रमितां चिन्तामणिर्मदं तनुते ।।
गिरिधर नागर सरवस रमण समीरावधूतवन्धुतृणा ।
चरण नखमिहिरदारितमसिज तिमिराममारणं मीरा ।।

In the world of Krishna Consiousnecss, all Particlas of dust, wherever, they may be, and whatever Positson they may hold, are blessed to injoy equal intdesity of Radha Krishna Ananda Champaklata, one of Radha krishna's ashtasakhis, whose, duty was to hold the Chavanra in their front, was born to spread Krishna Prema on earth, first as Ps Padmavati (Sri Jayadeva's wife) next as Chintamani (Lilasuka's wife) and last as Mira.

JAI SHRI KRISHNA

'कृष्ण-बोधमय जगत् में समस्त धूल-कण–वे ही कहीं भी हों और कैसी भी स्थिति के अधिकारी हों–राधाकृष्ण के आनन्द का समानता से उपभोग करते हैं। चम्पकलता ने, जो राधाकृष्ण की अष्ट सखियों में से एक थी और जिनका काम चँवर डुलाना था, कृष्ण के प्रेम को पृथ्वी पर फैलाने के लिये जन्म लिया था, पहले पद्मावती (श्री जयदेवजी की स्त्री) के रूप में और फिर चिन्तामणि (लीलाशुक की स्त्री) के रूप में और अन्तिम बार मीरा के रूप में।'

उस बहिन के मुख से संस्कृत में मीराबाई की स्तुति के ये श्लोक सुनकर मैं अवाक् रह गया। आज तक मैंने संस्कृत में मीराबाई की स्तुति का एक भी श्लोक नहीं सुना था। मेरी बड़ी उत्कण्ठा बढ़ी, मैंने पूछा—"ये श्लोक किसने बनाये।"

तब नटेशजी ने बताया—"हमारे यहाँ मद्रास में एक बहुत बड़े सरकारी नौकरी मीरा भक्त हो गये हैं। उनका नाम मीरा-दासी था। वह मीरा देवी को ही अपना इष्ट मानते थे। मद्रास प्रान्त में मीराबाई को इष्ट मानने वाले भक्त का नाम सुनकर मेरा हृदय भर आया। मैंने मन में कहा—"देवि! तुम किसी एक की नहीं, सबकी इष्ट हो।"

जब हम मद्रास श्री नटेश जी के घर आकर सदल बल ठहरे तो वहाँ तो बच्चे-बच्चे के मुख पर मीरा के पद थे। गुर्वायूर के भक्त आये, उनकी छोटी बच्ची मीरा के पद गाती। नटेशजी की छोटी बच्ची मीरा के पद गाती तो ऐसा लगता मानो साक्षात् मीरा ही गा रही हो। उसे रुक्मिणी-मङ्गल, रास पंचाध्यायी, गीत गोविन्द कण्ठ थे। एक श्लोक बोलते ही उसकी आँखें बहने लगतीं। ५-७ दिन उस परिवार में रहकर हम उनमें घुलमिल गये, मानो किसी आश्रम में ठहरे हों।

नटेशजी के घर में, गुरुनिलयम् में और-और जगह उन भक्त शिरोमणि महाभाग मीरादासी के बड़े-बड़े चित्रों के दर्शन किये। अब उनका शरीर नहीं है। मद्रास में उनके बहुत से योग्य शिष्य हैं, जो मीरा को ही अपना इष्ट मानकर पूजते हैं। उनके लड़के भी हैं, वे सम्भवतया कलकत्ते रहते हैं और वहाँ दक्षिण-भारत-संकीर्तन-मंडली भी उन्होंने स्थापित कर रखी है।

यहाँ आकर मैंने नटेशजी को लिखा कि श्री मीरादासी जी का संक्षिप्त चरित्र मुझे लिख भेजें। उन्होंने अँग्ररेजी में उनके सम्बन्ध में जो कुछ लिख भेजा है उसका भावानुवाद हम नीचे देते हैं। इससे पाठकों को पता चलेगा कि इस मद्रासी भक्त ने मीरा को अपना इष्ट क्यों माना?

JAI SHRI RADHAKRISHNA

Premis live cannot be skethed. They are 'रहसि संविदो याहृदि स्पृशः' and 'रहसि संविदं हृच्छयोदय'। Their lives should be felt, and this can be achieved only by a Premi Nevertheless, an attempt will be made to draw on or two pen pictures of this Mira-Dasa or Mira because.

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत पप आदिभिः
यथाकृष्णार्पितप्राणः तत्पुरुषनिषेवया।

As this blessed devotee lay on his bak one star lit night on the top floor his residence in Madras, a voice beckoned to him and bade him look at धूमकेतु (a meteor) in the sky. There was a meteor then actually in the sky and this premi saw a blue figure descend therefrom and reach his side. As it approached him, he recognised it to be Mira eneveloped in a dazzling cool blue light. From that time onwards, Mira possessed him and he felt he was a tool in the hand of Mira who was herself living in the blue boy blessed Brindavan.

His very existence (physical, mental and spiritual) underwent a definite change He was a regular Gopi reveling in the Krishna's गतिस्मित प्रेक्षणभाषण। His own gait, smile, lock and talk become naturally attract and be witching He was found to spend the rest of his ideal, and Lord was seen to help hime live up to it. Srimad Bhagavatam, Namasankirtanam and Bhakta's lives engaged him throughout the rest of his life.

He was transferred to Bengal; and holding a high Gazettad post in the Government service, he was able

to acquire first-hand information about and draw inspiration from Lord Chaitanya Mahaprabhu. He found that his guiding Principle of Life was the same as that enunciated by Lord Krishna Chaitanya.

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयः तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवत पुराणममलं प्रेमापुमर्थो महान्
श्रीचैतन्य महाप्रभोः मतमिदं तत्राग्रहो नापरः ॥

During his last moments when he could not move his lambs or speak, he requested his disciples to write on his tongue sweet name राधाकृष्ण and when this was done be felt ecstatic.

What words can describe the devotional life led by this Premi, who lived in Mira Chaitanya who, in turn were immersed in Radha Krishna ? The disciples and the descendants of this Premi, who are not very many, are even today monuments of real Krishna Bhakti and they are capabla of teaching you in silent eloguence that Krishna-prema is the one supreme ideal of humanity. They also feel that they are always living in this Premi who is to them अरण मीरा राधाकृष्ण ।

O Krishna ! you are the real Mother, you are the real Father, you are the real Bandhu, you are the real Friend, You are the Knowledge, you are the wealth and you are everything. Who can praise to his satisfaction the deeds and glory of yon and your Kith and Kin. ?

JAI SHRI KRISHNA.

"जय श्री राधाकृष्ण"

प्रेमियो के जीवन की तस्वीर नहीं खींची जा सकती।

उनके जीवन का अनुभव करना चाहिये और यह एक प्रेमी ही कर सकता है। तब भी एक या दो मीरादास या मीरा के कमल चित्र बनाने की कोशिश की जायगी। न तथा.........

जब यह भक्त मदरास के अपने मकान में एक तारकमय रजनी में लेटा हुआ था, अकस्मात् एक शब्द ने उसे इशारा किया और आकाश में धूमकेतु की तरफ देखने को कहा। उस समय वास्तव में आकाश में एक तारा था और इस प्रेमी ने एक श्याम मूर्ति उतरती हुई और अपने पास पहुँचती हुई देखी। जब वह उस तक पहुँची, उसने पहिचाना वह मीरा थी और उसके चारों तरफ शीतल श्याम प्रकाश था। उस समय से मीरा उसके हृदय में बैठ गई और उसने अनुभव किया कि वह मीरा के हाथ का एक यन्त्र था। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से उसका एक पूर्ण परिवर्तन हो गया। कृष्ण के 'गति-स्मित प्रेक्षण भाषण' में वह गोपी बन गया। उसका आकार, उसकी मुस्कराहट, चितवन और बात-चीत सहज ही हृदय को खींचने वाली और असर करने वाली हो गयीं। उसने अपना बाकी जीवन श्याम की मीरा के लिये व्यतीत किया। भागवत धर्म ही उसका उद्देश्य था। भगवान् उसकी सहायता करते हुए दिखाई देते थे। वे श्रीमद्भागवतम् और भक्तों की जीवनियों में बाकी जीवन में संलग्न रहे। वह बङ्गाल बदल गये और एक सरकारी ऊँचे गजटेड पद पर थे। जिन्होंने प्रारम्भिक जानकारी चैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्राप्त की। उन्होंने मालूम किया कि उनके जीवन के नियम बिलकुल वही थे जिन्हें श्रीकृष्ण-चैतन्य ने बताया।

अपने अन्तिम समय में जब वे न हाथ पैर हिला सकते थे और न बोल सकते थे, उन्होंने अपने चेलों से कहा कि वे उनकी

जिह्वा पर राधाकृष्ण का मधुर नाम लिख दें जब ऐसा किया गया तब वे बहुत प्रसन्न चित्त हो गये। इस प्रेमी के जीवन को, जो मीरा चैतन्यमय था, कौन से शब्द वर्णन कर सकते हैं। इनके शिष्य और सन्तान, जो बहुत नहीं हैं—इस दिन तक कृष्ण की सच्ची भक्ति के स्तम्भ हैं तथा इस बात की चुपचाप शिक्षा देते हैं कि कृष्ण प्रेम ही मनुष्यता का सबसे उच्च आदर्श है। वे (शिष्य सन्तान) इस बात का भी अनुभव करते हैं कि सदैव उस प्रेमी के साथ रहते हैं जो कि उनके लिये अरण······ ·· है।

त्वमेव माता च० ···कौन आप (कृष्ण) के कार्य और बड़ाई की प्रशंसा अपने सन्तोष तक कर सकता है।

"जय श्रीकृष्ण"

इससे पाठक समझ गये होंगे कि मीरा मानुषी नारी नहीं थी, वह एक नित्यलोक की श्यामसुन्दर की अत्यन्त ही प्यारी सहचरी थी और अब भी है। कृपा करके जिनके सामने वह प्रकट होना चाहती है, उसके सामने प्रकट होकर उसे अपने असली रूप का परिचय कराती है तथा उसे अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के परिकर में मिला लेती है।

इस बात को यदि कोई हम जैसे लोग कहते तो कोई भी न करता। कह देते—"ये लोग तो अपने खाने कमाने और मान प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये ऐसी-ऐसी बेसिर पैर की बातें गढ़ते ही रहते हैं। किन्तु जब यह घटना एक अन्य भाषा-भाषी अन्य प्रान्त निवासी, आज कल की परिभाषा में सुशिक्षित और सभ्य सरकारी सम्मानित पद पर आरूढ़, आधुनिक समाज के एक व्यक्ति के साथ घटित होती है, तब तो शङ्का के लिये स्थान ही नहीं। यों विश्वास न करो तो दूसरी बात है। इस तरह

मीरा ने अटक से कटक तक, हिमालय से कन्याकुमारी तक अपने अपूर्व भक्तिभाव के लिये ख्याति प्राप्त कर ली है।

प्रकट रूप में मीरा के नाम से कोई पन्थ नहीं और उसका न होना ही श्रेयष्कर भी है। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजी एक सङ्कीर्ण परिधि वालों के न होकर सर्वसाधारण के हैं, उसी तरह मीरा पर सभी सम्प्रदाय, सभी पन्थ तथा सभी मार्गों के लोगों का समान स्वत्व है। यही कारण है कि आज मीरा समान भाव से मानी और पूजा जाती है। जैसे आजकल जो भी अन्धा हो उसी को हम सूरदास कहने लगते हैं, उसी प्रकार जो भी लड़की भक्ति भाव करने लगती है, हम उसे मीरा कहने लगते हैं। ऐसी बहुत-सी बहिनों को मैंने देखा है, जिन्होंने मीरा के चरणों का अनुसरण करते हुए अपनी सम्पूर्ण आयु अविवाहित रहकर बिताने का निश्चय किया है,। ऐसी बहुत-सी बहिनें हैं, जिन्हें मीरा के आदर्श से शान्ति मिली है। मीरा ने नारी समाज का मुख उज्ज्वल किया है, उसके गौरव को बढ़ाया है, जिनकी दृष्टि में ये संसारी सुख भोग तुच्छातितुच्छ हैं, जिन्हें सन्तान की इच्छा से नहीं जो अपने जीवन को पवित्रतम रूप में बिताना चाहती हैं, उनके लिये मीरा से बढ़कर आदर्श कहाँ प्राप्त होगा ?

मीरा के सम्बन्ध में लोगों के आज से पूर्व अनेक प्रकार के मत रहे हैं। किन्तु कुछ बातें तो चित्तौड़ और मेड़ते के पुराने कागजों तथा राजाओं की वंशावली से निश्चित हो गई हैं, जैसे वे मेड़ते के रतनसिंह जी की पुत्री, रावदूदा जी की पोती और राव जोधाजी की परपोती थीं।

मीरा का विवाह चित्तौड़ के राणा साँगा के बड़े पुत्र राणा भोजराज से हुआ। अभी तक उनके जन्म की ठीक-ठीक तिथि या

सन् सम्वत् ज्ञात नहीं हुआ, किन्तु सभी का ऐसा अनुमान है और एक दो वर्ष का अन्तर भले ही पड़े, यह ठीक ही प्रतीत होता है कि सम्वत् १५५५ के लगभग उनका जन्म हुआ। सम्वत् १५७२-७३ में उनका विवाह हुआ लगभग १० वर्ष बाद उनके सांसारिक पति भोजराज का देहावसान हुआ। उसके बाद मीरा ५-६ वर्ष ही चित्तौड़ में रही इसी बीच में उनके सौतेले देवर राणा विक्रम ने उन्हें तरह-तरह की यातनायें दीं। लगभग सम्वत् १५८७-८८ में वह मेड़ते चली आईं। वहाँ वह दो साल रही होंगी। जब मेड़ता राववीरमदेव जी के अधिकार में चला गया तो वह वहाँ से सदा के लिये निकल पड़ी। २-४ साल वह श्री बृन्दावन, काशी आदि तीर्थों में घूमीं। फिर वह द्वारका जी चली गईं और वहाँ १०-१२ वर्ष रहने के अनन्तर लगभग सम्वत् १६०३-४ में श्री रणछोर जी के श्री विग्रह में विलीन हो गईं।

यह जो हमने सम्वत् १६०३-४ उनके परलोक गमन का समय लिखा है, आजकल के नूतन लेखकों के मतानुसार लिखा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने उदयपुर राज्य के मतानुसार उनके परलोक गमन का समय सम्वत् १६२० बताया है। अभी इस विषय में पूर्ण निश्चय नहीं हुआ। सम्भव है और भी अधिक दिन वे धाम पर विराजी हों।

यह प्रसिद्ध है कि मीराबाई ने गोस्वामी तुलसीदास जी को मेवाड़ से यह पत्र लिखा था—

श्री तुलसी सुख निधान दुख हरन गोसाईं।
बारहिं बार प्रनाम करूँ हरो सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु सङ्ग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥

बालपने ते मीरा कीन्हीं गिरिधर लाल मिताई।
सो तो आप छुटै नहिँ क्योंहूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरि भगतनि सुखदाई।
हमकूँ कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई॥

इसका उत्तर गोस्वामीजी ने यह दिया था—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजबनितनि,भे सब मङ्गलकारी॥
नातो नेह रामसों मनिअत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहाँ आँख जो फूटे, बहु तक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासो होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो॥

आज कल बहुत से लेखकों ने तो इस पत्र व्यवहार को कपोल कल्पित ही माना है। उनका अनुमान यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी की विशेष ख्याति 'रामचरितमानस' रचने के बाद अर्थात् सम्वत् १६६१ के १०-२० वर्ष पश्चात् हुई। अर्थात् मीरा के परलोक गमन के २५-३० वर्ष बाद। फिर इस पत्र-व्यवहार का होना सिद्ध नहीं होता। मान लो कि वे पहिले ही प्रसिद्ध हुए हों तो भी वह मेवाड़ मेड़ता दोनों से बहुत पहिले ही चली आई थी।

जब से गोस्वामीजी के शिष्य श्री वेणीमाधवदासजी का 'मूल-गोसाईं-चरित' प्रकाशित हुआ है, तब से कुछ लोग इस पत्र-व्यवहार की प्रामाणिकता पर विश्वास करने लगे हैं। इस वेणीमाधवदासजी गोस्वामीजी के दीक्षा शिष्य थे, २-४ वर्ष नहीं, पूरे ५०-६० वर्ष वे उनके समय में उनके साथ

उपस्थित रहे। ऐसे व्यक्ति का भी ग्रन्थ प्रामाणिक न माना जाय तो और कौन प्रामाणिक माना जा सकता है। अतः कुछ लोग पत्र-व्यवहार को तो मानते हैं, किन्तु सम्वत् के विषय में उन्हें सन्देह है।

महात्मा वेणीमाधवदासजी ने स्पष्ट यह नहीं लिखा कि यह किस सम्वत् की बात है, मीराबाई का पत्र कब आया ? सम्वत् १६१६ में गोस्वामीजी का चित्रकूट पर निवास लिखा है और उसी समय गोस्वामी विट्ठलनाथजी के भेजे हुए सूरदासजी आये हैं। उन्होंने अपना सूरसागर सुनाया है। तब गोस्वामीजी ने विट्ठलनाथजी को एक पत्र लिखकर सूरदासजी के हाथ पठाया है। उसी प्रसंग पर ये दोहे लिखे हैं—

तब आयो मेवाड़ ते, विप्र नाम सुखपाल।
मीराबाई पत्रिका, लायी प्रेम प्रवाल॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय।
*सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय॥**

प्राकृत प्रसंग में यही अनुभव होता है कि यह सम्वत् १६१६ के बाद की ही बात है और सुखपाल ब्राह्मण मेवाड़ से ही आया होगा। परन्तु १६१६ के बहुत पहिले उन्होंने मेवाड़ छोड़ दिया था।

हम अपना अनुमान कहते हैं। वैसे ठीक-ठीक पता तो तब चले जब पूरा गुसाईं चरित प्रकाशित हो, क्योंकि यह तो उस बृहद् गोसाईं चरित का सारांश मात्र है। बड़े ग्रन्थ में सम्भव है, कुछ अधिक हो। यदि उसमें भी ये ही दोहे

---

* अब लोग कहने लगे हैं कि मूल गुसाईं चरित भी किसी सर्वथा नूतन कवि की अभी की रचना है।

हैं तो हम सोचते हैं कि यह घटना श्रीद्वारिकाजी में हुई होगी। यह निश्चय है कि मीराबाई ने सम्वत् १६००से पहिले मेवाड़ छोड़ दिया था और वे द्वारिकाजी अधिक दिन १०-५ वर्ष तो अवश्य ही रही हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी तीर्थ यात्रा करते हुए लगभग सम्वत् १६०० में द्वारिकाजी में भी पधारे थे वे प्रतिभावान थे, अलौकिक पुरुष थे। यहाँ उनकी प्रसिद्धि हुई होगी। सम्भव है, ख्याति सुनकर मीराबाई भी दर्शन के लिये गई हों, उन्हीं दिनों मेवाड़ तथा मेढ़ता से लोग बहुत आग्रह करते हों, तब उन्होंने उसी समय मेवाड़ से आये हुए सुखपाल ब्राह्मण के हाथों गोस्वामीजी को यह पत्र लिखा हो कि मैंने बाल्यकाल से ही श्रीगिरिधरलालजी से प्रेम किया था, इस पर मेरे घर वालों ने बड़ी उपाधि उठाई, न मुझे साधु-संग करने देते थे, न भजन ही करने देते थे, इसलिये मैं सब छोड़-छाड़कर यहाँ चली आई हूँ।

अब मेरे घर वाले फिर मुझे बड़े आग्रह से बुला रहे हैं। ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिये ?

इस पर गोस्वामीजी ने लिखा होगा कि चाहे वे कैसे भी प्रेमी हों, सगे-सम्बन्धी हों, यदि वे भक्त नहीं तो उन्हें शत्रुओं की तरह समझकर ही त्याग देना चाहिये। अन्त में यह भी लिख दिया—

तुलसी सो सब भाँति परमहित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासो होइ सनेह रामपद, एतो मतो हमारो।।

जिस काम से प्रभु के प्रति प्रेम पैदा हो, जहाँ रहकर निर्विघ्न भजन होता हो, वही करो, वहीं रहो।

सम्भव है इस उत्तर को पाकर मीरा ने मेवाड़ न जाने का

निश्चय कर लिया हो और अन्त में वे श्रीरणछोरलालजी के श्री विग्रह में विलीन हो गई हों।

सम्भव है, यह चर्चा गोस्वामीजी ने कालान्तर में श्रीवेणी-माधवदास जी से की हो। अब यहाँ जब विट्ठलनाथ जी के पुत्र का प्रसंग आया तो हो सकता है कि श्रीवेणीमाधव-दासजी को मीरा के पत्र वाली बात भी याद आ गई हो और इस जगह उसका उन्होंने उल्लेख कर दिया हो। ऐसा सभी पुराने ग्रन्थों में पाया जाता है। ऐसे प्रसंग श्रीमद्भाग-वत में बहुत हैं, बहुत-सी आगे की कथाएँ पहिले कह दी हैं, बहुत-सी पीछे की आगे कही हैं। शकटभञ्जन और तृणावर्त वध—ये नामकरण से पीछे की लीलाएँ हैं, किन्तु नामकरण के पहिले कही गयी हैं। कुरुक्षेत्र में गोपों का संगम महाभारत से भी पहिले का है, किन्तु कहा गया है सबसे अन्त में। जो कुछ भी हो। महात्मा वेणीमाधवजी के ग्रन्थ से हम यही निश्चय कह सकते हैं कि श्री गोस्वामीजी तथा मीराबाई का पत्र व्यव-हार हुआ अवश्य, फिर चाहे वह चित्रकूट में हुआ हो या श्री द्वारिकाजी में, वह सम्वत् १६१६ में हुआ हो या सम्वत् १६०३ के पहिले।

इसी तरह विवादास्पद विषय मीराबाई के दीक्षा के सम्बन्ध में है। कोई तो उन्हें महात्मा रैदासजी की शिष्या बताते हैं। मीराबाई ने अपने कई पदों में भी उन्हें गुरु करके स्मरण किया है जैसे—

रैदास सन्त मिले सत् गुरु।
गुरु मिलिया रैदास, दीनी ज्ञान की गुटकी।
मीरा ने गोविन्द मिल्याजी, गुरु मिलिया रैदासजी।

कोई-कोई उन्हें श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय में श्रीजीव

गोस्वामी की मन्त्र शिष्या हैं बताते हैं, वे इसके प्रमाण में मीराबाई का बनाया यह पद उद्धृत करते हैं—

अब तौ हरी नाम लौ लागी।
सब जग को यह माखन चोर, नाम धर्‌यो वैरागी ॥
कित छोड़ी वह माखन मुरली, कहँ छोड़ी सब गोपी।
मूँड़ मुँड़ाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी ॥
मात यसोमति माखन कारन, बांधे जाको पाँव।
श्याम किशोर भयो नव गोरा, चैतन्य जाको नाव ॥
पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै।
गौर कृष्ण की दासी मीरा, रसना कृष्ण बसै ॥

इस पद में श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु (गौराङ्गदेव) की स्तुति है। इससे लोग अनुमान लगाते हैं कि वे उन्हीं के सम्प्रदाय में दीक्षित थीं। कोई-कोई उन्हें श्रीबल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय की भी शिष्या बताते हैं।

हमारा अपना अनुमान यह है कि वे श्री प्रहलादजी की ही तरह नित्य-सिद्धा थीं। उन्हें जन्म जन्मान्तर के ही संस्कार थे, जो बाल्यकाल से ही स्वतः प्रस्फुटित हो उठे। उन्होंने किसी से भी मन्त्र–दीक्षा नहीं ली। हाँ, वैसे तो साधु-मात्र गुरु हैं उन्होंने कई पदों में कहा है—साधु हमारे माता-पिता हैं। यह सम्भव है कि जिस झाली रानी के सम्बन्ध में श्री रैदास जी के यहाँ जाकर शिष्य होना लिखा है, वह इनके ससुर की पत्नी हों। राजाओं के वहुत-सी रानी होती हैं। झाली रानी की भी महात्मा प्रियादासजी ने चित्तौड़ की रानी लिखा है—'बसत चित्तौड़ माँझ एक झाली नाम, नाम बिन कान खाली आनि शिष्य भई है।' और भी लिखा है कि उसके आग्रहपूर्वक बुलाने से रैदासजी चित्तौड़ पधारे थे—'गई घर झाली पुनि बोलि

के पठाये अहो, जैसी प्रीति पाली अब तैसे पारिये। आपहू पधारें, उन बहुधन, पट बार, विप्र सुनि पाँव धरि, सीधी दै निवारिये।'

उन रानी के पास महात्मा रैदासजी के भजनों का संग्रह होगा, उन्होंने उन सबको पढ़ा होगा। इससे उनमें उनका गुरु-भाव हो गया होगा। श्रीचैतन्यदेव भी उनके लगभग समकालीन ही थे, उनकी भावभक्ति और प्रभु प्रेम में तन्मयता का भी उन पर प्रभाव पड़ा होगा, उसी प्रभाव में उनकी यह स्तुति की होगी। कुछ भी हो सन्त परस्पर में एक दूसरे के गुरु थे और सभी में उनकी आदर बुद्धि थी। प्रेम-मार्ग ही उनका सम्प्रदाय था और श्रीगिरधारीलाल ने ही स्वयं उन्होंने प्रेम की दीक्षा दी थी। इस विषय में हमारी ऐसी ही मान्यता है।

मीराजी के गिरिधर गोपाल के सम्बन्ध में एक कथा सुनी जाती है कि मीरा ने उनको एक साधु के पास देखकर माँगा। साधु ने देना स्वीकार नहीं किया। तब भगवान् ने उस साधु को स्वप्न दिया कि हमें मीरा के पास पहुँचा दो। साधु ने भगवत् आज्ञा पालन किया। तब से वह उन्हें सदा अपने पास रखती। उसके अन्तर्धान होने के अनन्तर वे पुरोहित उन्हें साथ ले आये।। उन्होंने उन्हें कहाँ रखा, इसका ठीक-ठीक पता नहीं। कोई तो कहते हैं, वे काशी के एक मन्दिर में हैं। जब हम गङ्गा किनारे-किनारे पैदल भ्रमण करते थे तब ठीक-ठीक तो याद नहीं, सम्भवतया खजूरगाँव, असनी के पास कानपुर से आगे एक गाँव में गिरिधर गोपाल लाल के दर्शन किये थे। वहाँ के लोगों ने बताया कि वे मीराजी के ही गिरि-धर गोपाल है। राजपुरोहित यहीं रख गया था। या रह

गये थे। वृन्दावन में भी शाहजी के मंदिर के पीछे वाली गली में एक मीराजी का मन्दिर है, कहते हैं ये वे ही श्रीविग्रह हैं।

मीराजी के पदों का कोई यथार्थ-शुद्ध संपूर्ण संग्रह अभी तक नहीं निकला। उनके रचे हुये तीन ग्रन्थ बताये जाते हैं (१) नरसी जी का मायरा (२) गीत गोविन्द की टीका और (३) राग गोविन्द। सम्भवतया उनके ये फुटकर पद इन तीनों से अलग हैं। 'नरसी का मायरा' की प्रतिलिपि मिलती बताई जाती है। यदि यह अभी तक प्रकाशित नहीं है तो इसे प्रकाशित करने का प्रयत्न करना चाहिये। मीरा के पदों पर आलोचनात्मक निबन्ध और ग्रन्थ लिखवाने चाहिये। इस प्रकार मीरा के दिव्य भावमय प्रेममय भावों का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार होना चाहिये। उनके यथार्थ भावों का प्रचार तो यही है कि उनके जीवन का अनुकरण और अनुसरण करने वाली दिव्य देवियाँ उत्पन्न होकर श्रीकृष्ण प्रेम में निमग्न हो जायँ। बहुत से उनके नाम की आड़ लेकर पाप में भी प्रवृत्त होते हैं, यह तो सर्वत्र ही होता है, ऐसे लोगों को कौन रोक सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण प्रेम में बनावट बहुत दिन चलती नहीं।

मीरा के सम्बन्ध में बहुत वक्तव्य है, किन्तु अब इतने ही से सन्तोष करूँगा! मुझमें विद्याबुद्धि योग्यता जैसी है पाठक जानते ही हैं, शिष्टाचार दिखाकर अपनी अयोग्यता बताने में भी योग्यता की झलक आ जाती है। प्रारब्ध जहाँ घुमाता है, घूमता हूँ, जो कराता है करता हूँ मेरे ग्रन्थ में किसी का भला होगा, उपकार होगा, इस भावना से मैं सम्भवतया नहीं लिखता। स्वभावानुसार प्रकृतिवश होकर, कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा जोड़ता रहता हूँ। माधवजी ने कृपा की है, अपने चरणों में रखा है, गङ्गा-यमुना के सङ्गम में नित्य स्नान का

अवसर प्रदान किया है। मैं माधवजी को छोड़ भी जाता हूँ किन्तु वे इतने दयालु हैं, दूर से बुला लेते हैं। इधर १८-२० वर्ष से प्रयागराज में ही उन्होंने रख छोड़ा है। बीच-बीच में अनेक कारणों से जाना भी पड़ता है किन्तु जैसे कोल्हू का बैल घूम फिर कर वहीं आ जाता है, आना पड़ता है। अपने रूखे और अहङ्कारी स्वभाव से दूसरे लोग अपने यहाँ ठहरने में शङ्कित होते हैं, हिचकिचाते हैं। ऐसा ही एक प्रसङ्ग ३ । ४ वर्ष पहिले आया था। इसीलिये प्रयाग को सदा के लिये छोड़कर चला गया था। माधवजी ने फिर घेर-घार कर बुला लिया।

जिन दिनों मैं यहाँ रहकर अपना कुछ नियमानुष्ठान कर रहा था उसी समय बिहार-एसेम्बली के स्पीकर, बाबू रामदयाल सिंह जी सत्सङ्ग और गङ्गा-वास की इच्छा से मेरे समीप ही एक जमीन लेकर इसमें एक कुटिया बनाकर रहने लगे थे। उनका बड़ा स्नेह था। इतने बड़े आदमी होकर भी मेरे सभी छोटे-से-छोटे कामों को स्वयं वे करते। मेरी प्रत्येक बात की देख-रेख रखते। जब मैं कहता—बाबूजी, आप स्वयं न करें इतने नौकर हैं उनसे करादें। तब वे सरलता से कहते—"सरकार,, यह हमारा सौभाग्य है। पटना में ऐसे अवसर कहाँ मिलते हैं?" वे बड़े भगवत्-भक्त थे, निरभिमानता की तो वे मूर्ति ही थे, सबसे आत्मीय जनों की तरह मिलते। जब मैं झूसी छोड़कर चला गया तो उन्होंने झूसी छोड़ दी। मकान को उन्होंने बेच दिया, जिसे प्रयाग के नारायणदास माधुरीदास फर्म के मालिक लाला पुरुषोत्तमदासजी ने खरीद कर सङ्कीर्तन ब्रह्मचर्याश्रम को दे दिया। जब मैं बद्रीनाथ था, तब मुझे पता लगा कि स्पीकर साहब ने अपना मकान बेच दिया। गत वर्ष मुजफ्फरनगर सङ्कीर्तन-सम्मेलन में वे मुझे मिले थे।

कुछ अस्वस्थ थे, मेरी उनकी यही अन्तिम भेंट थी। उन्होंने गद्गद कंठ से कहा—"सरकार, मैंने उस मकान को सीताराम-सीताराम कहकर बनवाया था, यदि मैं उस मकान में सरकार को नाचते हुए देखूँ तो मेरा हृदय प्रफुल्लित हो, मेरा परिश्रम सार्थक हो।' आजकल मैं उसी मकान में रहकर नाचता हूँ।' किन्तु हाय ! मेरे बाबूजी अब मेरे नाच को स्थूल देह से देखने नहीं आते। उनके साथ रहने से हमें कितना सहारा था, हमारा कितना गौरव था। वे इतने गम्भीर और प्रभावशाली थे कि बड़े-बड़े गवर्नर उनके सामने काँपते थे। वे एक प्रान्त की एसेम्बली के प्रधान थे, किन्तु जब उन्हें कोई यहाँ कुरता पहिने लाठी लिये देखता तो समझता साधारण आदमी हैं। जब मैं अभी इन्हीं जाड़ों में मदरास में नटेशजी के घर था, तब उनका मुझे अन्तिम पत्र वहीं मिला। तभी पत्रों में प्रकाशित हुआ कि वे चल बसे। कैसा मैं हतभागी हूँ कितने और चले गये, मैं ही इस प्रेमशून्य भागवत-विहीन जीवन को बिताने को बना हूँ।

इच्छा तो ऐसी है कि अब माधवजी अपने चरणों की शरण में रखें। अब बहुत घुमावें न। अब कोई स्थान से जाने को कहेगा ऐसी किसी दूसरे से शङ्का भी नहीं। दूसरे से न भी हो, अब एक शङ्का अपने आपमें होने लगी है। कहीं इस स्थान में ममत्व करके मठाधीश बनने की लालसा तो न उत्पन्न हो जायगी ? इसके लिये क्या करूँ, कहीं तो रहना ही है।

यद्यपि इसे बनवाया नहीं है, जमीन सरकारी है, भाड़े पर ली गई है, किसी ने बनवाया, किसी ने खरीदा, किसी के नाम है। फिर भी यह पापी मन इसमें अपनापन कर बैठे तो इससे बढ़कर नीच कौन होगा। जड़ भरतजी ने चैतन्य हिरन

से मोह किया तो वे हिरन तो बने। यदि मैं इन ईंट-पत्थर में अपनापन कर बैठूँ तो अन्त में पत्थर ही बनना होगा। यह बिना प्रसङ्ग के 'गङ्गा की गैल में महार के गीत' इसलिये गा दिये अपने मन की बात इसलिये बता दी कि मीरा के पाठक सब सहृदय होंगे, उनके हृदय में इस साधनहीन दीन के प्रति यदि कुछ ममत्व, अपनापन हो जाय, दया के भाव उत्पन्न हो जायँ तो सम्भव है, इसका भी बेड़ा पार हो जाय।

अन्त में व्रजवासियों के शब्दों में उन मीरा गिरिधर लाल के चरणों में यही प्रार्थना करके इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं—

मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादम्बुजाश्रयः।
वाचोऽभिधायिनीर्यास्नां कायस्तत् प्रह्वादिषु ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥

पुराण-सभा मण्डप
भूसी (प्रयाग)
श्रावण-शुक्ल ६।२००२

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

---

* हमारे मन की वृत्तियाँ उन वृजविहारी गिरिधारी नटनागर श्रीकृष्णचन्द्र नन्दनन्दन के पादारविन्द में सदा लगी रहें हमारी वाणी सदा उनके ही मङ्गलमय त्रैलोक्य पावन नामों का सदा गान करती रहे। हमारा यह नश्वर देह लोट पोट होकर उन राधारमण बाँकेबिहारी को सदा प्रणाम करता रहे। प्रारब्ध कर्मों के अनुसार ये श्रीहरि हमें चाहे जिस-जिस योनि में घुमाते रहें। वहाँ यदि हमसे भूल में कुछ अशुभ कर्म बन गया हो तो उसके बदले यही माँगते हैं कि हमारा मन सदा उन मनमोहन की बाँकी-झाँकी में ही लगा रहे।

॥ श्रीहरिः ॥

मतवाली मीरा

बाई मीरा

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माऽभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥*

न विशेष जाड़ा था न गर्मी, शारदीय पूर्णिमा की नीरव निशा थी, निशा सुन्दरी आज सोलहों शृंगार से सजकर अपने स्वामी की सेवा में संलग्न थी प्रकृति स्तब्ध थी, वन श्री हँस रही थी। चारों ओर श्वेत परिधान पहिने चन्द्रिका छिटक

---

* रासोत्सव में ब्रज रमणियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए रासविहारी श्रीहरि कहते हैं—"हे भामिनियो ! तुमने जो कुछ मेरे साथ सौहार्दपने का वर्ताव किया है, यदि मैं उसका प्रत्युपकार करना चाहूँ तो मनुष्यों के वर्षों से नही, देवताओं के अनन्त वर्षों में भी उसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता। घर द्वार कुटुम्ब परिवार की मजबूत बेड़ियो को तोड़ना अत्यन्त ही कठिन है। तुम उन सभी बन्धनो को तोड़कर मुझे सुखी करने यहाँ निःशङ्क होकर आ पहुँची, अतः तुम्हारे सुन्दर स्वभाव से ही प्रत्युपकार हो सकेगा—मैं तो तुम्हारा जन्म जन्मान्तर में ऋणी ही बना रहूँगा।"

रही थी। कुमुदिनी अपने प्राणनाथ, जीवनाधार, प्राणवल्लभ की छटा पर मुग्ध थी। पक्षी शान्त थे, गायें बैठी-बैठी झपकियाँ ले रही थीं। बछड़े सो गये थे। गोपिकाओं ने गृह कार्य प्रायः समाप्त कर दिये थे। कोई जल्दी बर्तनों को मल रही थी तो कोई दही जमाने की मेटिया धो कर उसमें दूध जमाने का उपक्रम कर रही थी। कोई दूध को कुछ ठण्डा होते देख खिड़की में रखे हुये पथरी के जामन को लेने जा रही थी। किसी ने दूध जमाकर रख दिया था और शैया पर पड़े पति को दूध पिलाने का प्रयत्न कर रही थी। बच्चे सो गये थे। मातायें उनकी ओर चित्त लगाये जल्दी-जल्दी कामों को समाप्त करने के लिये लालायित थीं। अभी अर्धरात्रि होने में कुछ कसर थी कि एक मीठी-सी सुरीली तान सुनाई दी। बस, चारों ओर बेचैनी। जिधर देखो, उधर घबराहट। कोई कहती है, 'अरे, यह तो हमारे प्राणों को बलात्कार खींच रही है, किसी ने कहा—"अब जीना कठिन है।" कोई बोली—"बैरिन बाँसुरी बजी तो थी, किन्तु अब तो बन्द हो गई।" दूसरी भूली सी, भटकी सी, सिड़ी पगली की तरह लटपटाती हुई बाणी में नाच-नाचकर गाने लगी—

बजी है बजी रसखानि बजी
सुनि कै अब गोपकुमारि नजी हैं।
नजी हैं कदाचित कामिनी कोऊ
जो कान परी वह तान अजी है॥
अजी है बचाव को कौन उपाय
तियान पै मैन ने सैन सजी हैं।
सजी है तो मेरो कहा वश है
जब बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है॥

सचमुच वह बाँसुरी रुक-रुककर बज रही थी और उन व्रज-बालाओं के प्राणों का आकर्षण कर रही थी। वे अपने को अब सम्हाल न सकीं और धीरे से, चुपके से आँख बचाकर एक दूसरी को कुछ भी न बताकर चल पड़ीं। उन्हें पथ का ज्ञान नहीं था, दिशाओं का पता नहीं था। शरीर की भी सुध नहीं थी कि वे किधर जा रही हैं—उस मीठी तान के सहारे-सहारे वे चल पड़ीं। जैसे ढालू जमीन में पानी अपने आपही बहने लगता है और सभी सरितायें अपने स्वामी के ही पास पहुँच जाती हैं, उसी तरह वे रमणियाँ वृन्दावन विहारी के समीप पहुँच गईं। वह एक कदम के वृत्त के सहारे खड़ा था और अरुण अधरों पर वह मनमोहिनी मुरलिका रक्खी थी। बराबर फूँक लगने के कारण भौंहें कुछ तनी थीं। ललित त्रिभङ्गी चाल से वह छलिया-बिहारी खड़ा था। गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर वे प्रेमोन्मादिनी प्रमदायें खड़ी हो गईं। हँसकर मोहन ने पूछा—"क्यों आई हो इस उजियाली रात्रि में ?"

काँपते हुए स्वर में गोपियों ने कहा—"दया करो मोहन ! कटे पर नमक मत छिड़को। हम स्ववश नहीं हैं। परवश होकर खिंची चली आई हैं। हम जायँ भी तो कहाँ जायँ। तुम्हारे सिवाय जाने का कोई अन्य मार्ग भी तो नहीं।"

उत्तर सुनकर वे मुरलीधर मुस्कराये। गोपियों ने मुँह माँगी वस्तु पाई। वे सुखी हुईं। उनकी इच्छायें पूरी हुईं। उन्होंने प्रेमाह्लाद के साथ आत्म समर्पण किया। बस ! फिर क्या था। चिरकाल की उनकी कठोर साधना का फल देने के लिये वे अच्युत-प्रभु उद्यत हुए। वे योगेश्वरों के भी ईश्वर—मनमोहन उन्हें धन्य बनाने के लिये प्रेम का सच्चा स्वरूप जताने के लिये मंडल बाँधकर खड़े हुये। प्रत्येक व्रजबाला के बीच में वे सर्वेश्वर

अन्तर्यामी प्रभु उपस्थित थे। किसी ने भी उन्हें अपने से पृथक् नहीं पाया। सभी ने उनकी मंजुल मृणाल समान भुजलता को अपने कमनीय कण्ठों में अनुभव किया।

उस समय प्रकृति स्तम्भित थी चेतन जड़ हो गये थे। चञ्चल चाँदनी शान्त थी। यमुना प्रवाह रुक गया था। चन्द्रमा चलना भूल गये थे, वे जड़वत् स्तब्ध हो गये। वायु ने अपनी स्वाभाविक गति को छोड़ दिया। अहा! उस समय के रास मण्डल की शोभा कैसी अलौकिक होगी—

मंडल रास विलास महारस मंडल श्री वृषभानु दुलारी।
पंडित कोक सङ्गीत भरी गुण कोटिन राजत गोपकुमारी॥
प्रीतम के भुज दंड में शोभित सङ्ग में अङ्ग अनंगनवारी।
तान तरङ्गन रङ्ग बढ्यो ऐसे राधिका माधव की बलिहारी॥

वहाँ बलिहारी देने वाला ही कौन था। गोपिकायें कृष्णमय और कृष्ण गोपिकामय थे। चन्द्रमा जड़ हो गये थे। एक रात्रि की जगह १०८ रातें बीत गईं। ६ महीने की वह शारदीय रात्रि हो गई, किसी को पता ही न था। वह एकान्त विहार था। उसमें प्रेमी और प्रेमपात्र के सिवाय किसी अन्य को पहुँच भी नहीं थी। वह स्वसंवेद्य सुख था, अवर्णनातीत था, मन बुद्धि और इन्द्रियों के परे का आनन्द था।

रागिनी समय-समय की होती है। "समय एव करोति बलाबलं प्रणिदन्त इतीव शरीरिणा" यही एक अटल सिद्धान्त है। वह दिव्य प्रेम की परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रही। प्रेम का स्वभाव ही है—"प्रतिक्षणं वर्धमानम्" वह क्षण-क्षण पर बढ़ता ही जाता है। उसमें कमी की सम्भावना नहीं। बढ़ते-बढ़ते प्रेम "विरह" के रूप में परिणित हुआ। उसमें उन्माद, अपस्मार, कृशता, मलिनांगता, प्रलाप आदि ने अपना आसन

जमा लिया। इधर गोपिकाओं का सम्पूर्ण समय "माधव-माधव" कहते बीतता, उधर माधव के मन में ब्रजबालाओं की कसक बनी रहती। वे उनके वियोग में दुखी थे, लम्बी-लम्बी साँसें खींचते रहते थे। किन्तु अपनी पीर कहें किससे ? वह व्यथा तो अपनी निजी थी। उसे कोई क्या समझता ? समझने की बात ही नहीं थी, कहें भी तो किससे कहें।

उद्धव से कुछ प्रभु की प्रकृति मिलती थी। अपने अन्तरङ्ग सखा थे। एकान्त भक्त थे। सदा उनके शयनागार में बिना रोक-टोक आया-जाया करते थे। उन्होंने यदुनन्दन को अनेकों बार लम्बी-लम्बी साँसें लेते देखा था। एक दिन वे गरम-गरम स्वाँस छोड़ रहे थे और राधे-राधे रट रहे थे। हाथ जोड़े हुए उद्धव ने पूछा—"प्रभो ! अपनी मानसिक पीड़ा का कुछ हाल मुझे भी बताइये। इतनी विकलता किसलिये ? नाथ ! ऐसी चिन्ता, ऐसा उद्वेग किस कारण से है ?"

मानो किसी पके फोड़े पर हल्की-सी चोट मार दी हो। मनमोहन के दोनों नयन सावन भादों की सरिता की भाँति बह चले। उनका कण्ठ रुक गया, हिचकियाँ बँध गईं, कह कुछ न सके। अञ्चल से मुख ढाँककर सिसकने लगे। सुहृदय उद्धव ने श्री चरणों को पकड़ लिया और धीरे-धीरे सुहराते हुए बोले— "प्रभो ! मैं आपका एकान्त भक्त हूँ, सब कुछ करने के लिये उद्यत हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये। बात क्या है, जिस प्रकार स्वामी को सुख मिलेगा, मैं वही करने को तैयार हूँ। यह शरीर ही सरकार की सेवा के लिये है।' उद्धव के ऐसे वचनों को सुनकर आँखें पोंछते हुए भर्राई आवाज में प्रभु बोले—

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥

भैया, उद्धव ! मुझे उन गोकुल की भोली-भाली ग्वालिनियों का सोच अत्यन्त पीड़ा दे रहा है। वे मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करती थीं, अत्यन्त प्रिय पदार्थों से भी प्रिय मुझे मानती थीं। अब मैं उनसे दूर हूँ, अतः वे मेरे विरह में तड़पती होंगी। मेरे वियोग में विह्वल होकर विमोहित होती होंगी। उनका दुःख ही मुझे दुखी कर रहा है। अहा! वे मेरे बिना प्राणों को कैसे धारण करती होंगी? उद्धव! वे मुझे व्यथित कर रही हैं। वे ही अपनी अनन्य स्मृति द्वारा मुझे अपनी ओर वेग से खींच रही हैं। मेरे प्राण उन्हीं के लिये छटपटा रहे हैं, हृदय उन्हीं के लिये रो रहा है, कलेजा उन्हीं के लिये विकल हो रहा है।"

अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ उद्धव ने कहा—"प्रभो! यह आप कैसी प्राकृतिक पुरुषों की-सी बातें कह रहे हैं। भला आप कभी किसी से क्षण भर के लिये भी अलग हो सकते हैं? घट-घट व्यापी अन्तर्यामी स्वामिन्! आप तो प्राणों के भी प्राण हैं, जीवन के भी जीवनदाता हैं। आप सदा सर्वदा सर्वत्र सभी समय सभी के समीप हैं, पास हैं, निकट हैं। फिर, आपसे गोपियों का विरह कैसा?"

ममतापूर्ण स्वर में भगवान् ने कहा—"उद्धव! तुम बड़ी सुन्दर और त्रिकाल सत्य बात कह रहे हो, किन्तु वे गाँव की गँवार गोपिकायें इस गूढ़ ज्ञान को तो नहीं समझतीं। यदि तुम जाकर मेरी अपेक्षा उन्हें इस बात को समझा सको तो बड़ा उपकार हो। खिंचाव तो उन्हीं की ओर से है, वे ही मुझे विकल बनाने को विवश करती हैं, हृदय की तन्त्रों में अपनी विरहोछ्-वास रूपी मिजराव से वे ही झङ्कार उत्पन्न करती हैं। इतना मेरा

काम करो—इस ज्ञान का उपदेश गोकुल जाकर उन ग्वालिनियों को कर आओ।

गुरु बनने की लालसा प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है, क्योंकि आत्मा "गुरूणां गुरु" गुरु का गुरु है। प्रभु की आज्ञा उपदेशकी का काम, नन्द यशोदा के दर्शनों की लालसा, इन सभी कारणों से उद्धव चल दिये और गोकुल में आये। सबसे मिले जुले, किन्तु गोपियों का सन्देश एकान्त में कहने का था। प्रेमियों की बातें प्रेमियों के बीच ही सीमित रहती हैं। इतना दुःख था, ऐसी वेदना थी, किन्तु गोपियों ने किसी से उसकी चर्चा तक नहीं की। करने से लाभ हो क्या? "सुनि इठलहियें लोक सब, बाँट न लहियें कोइ" इसी से गोपी अपने विरह भार को स्वयं ही ढो रही थीं। उद्धव ने वही अपना रटा रटाया ज्ञान कह सुनाया और बताया, "यही उन सर्वान्तरयामी हरि का आप के लिये उपदेश है। आप उन्हें घट-घटवासी समझकर अपने आप में ही उनका अनुभव करें।"

गोपियों ने समझ लिया श्यामसुन्दर ने इसे अपना एकान्त सखा समझकर रहस्य की बातें बता दी हैं। जब उन्होंने ही इनके सामने प्रकट कर दिया है तो हम अब क्यों छिपावें। वे उदास होकर कहने लगीं—"ऊधोजी! बातें आपकी ठीक ही होंगी। आप ज्ञानी हैं, शास्त्रज्ञ हैं, पण्डित हैं, आप मिथ्या बात थोड़े ही कहेंगे। किन्तु हम ऐसी मन्द बुद्धि मूर्खा अबला हैं कि यह ज्ञान हमारे हृदय में धँसता नहीं। हमें तो बार-बार श्याम-सुन्दर की वही साँवरी सलोनी माधुरी मूरति याद आती है, जिसने अपने बाहुपाश से हमारे कण्ठ को कसकर बाँधा था। वह बन्धन अभी तक ढीला थोड़े ही हुआ है। दूर होने से वह और अधिक कस गया है। इसी से प्राण व्याकुल हो रहे हैं,

नयन निकल पड़ते हैं, दम घुटता-सा जा रहा है। इस बेचैनी में ज्ञान, ध्यान, योग, यज्ञ कुछ भी याद नहीं आता। जब वे स्वयं ही आकर इस बन्धन को ढीला करें तब कहीं कुछ चैन पड़ सकता है, किन्तु हम अभागिनियां को ऐसा सौभाग्य कहाँ? आपका ज्ञान अच्छा होगा, किन्तु वह हमारे काम का नहीं है।"

गोपिकाओं के इस स्पष्ट और दृढ़ उत्तर को सुनकर उद्धव आवाक् रह गये। वे उन महाभाग गोपिकाओं की निष्ठा के वेग में बह चले। उन्हें अब किनारे की सुधि-बुधि नहीं रही। हाँ, सचमुच सर्वेश्वर हरि ने इनके कण्ठों में अपना बाहुपाश डाला है। क्या वे घुंघुरू बाँधकर इनके साथ नाचे हैं? क्या उन आत्माराम ने इनके साथ रमण किया है? रसोत्सव में इन भाग्यवती व्रज वल्लभियों का सौभाग्य क्या पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है—क्या लक्ष्मीजी के सौभाग्य को भी इनके सौभाग्य ने तिरष्कृत नहीं कर दिया है? अहा! ये व्रज बालायें धन्य हैं। इनकी निष्टा ही सच्ची निष्ठा है। हम तो ज्ञान के ही अभिमान में मर गये। हमें तो इस शुष्क तर्क ने ही नीरस बना दिया, इस मस्तिष्क के पीछे ही पड़े रहने से हम उस अनिर्वच-नीय सुख से वंचित रहें। अहा! इस व्रज में हम भी क्यों न हुए। मनुष्य न होते, पशु पक्षी योग्य भी यदि हमारा भाग्य न होता तो किसी काँटेदार वृक्ष की योनि मिल जाती। ऐसा सोचते-सोचते उद्धव मूर्छित हो गये और उस मूर्छा में ही रोते-रोते गुन-गुनाने लगे—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्।
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

"इस रसमय वृन्दावन की किसी कुञ्ज की कँटीली झाड़ी के नीचे यदि मेरा जन्म घास में पेड़ पत्ते के रूप में होता तो यह

जीवन सार्थक बन जाता। इसलिये नहीं कि उस योनि से मैं उस अनिर्वचनीय रास क्रीड़ा के दर्शन कर पाता, जब शुक, सनकादि, नारद तक स्तम्भित हो गये तो वृक्षों की तो शक्ति ही क्या ? किन्तु उन प्रीयतम परायण परमाराध्या व्रजबालाओं के पाद पद्मों की पराग उड़कर मेरे पत्तों पर पड़ती तो वृक्ष-योनि में जन्म लेना तो सार्थक हो जाता।" ये उद्गार उन महाभागवत उद्धव के हैं जो भगवान् के परम प्रीति-भाजन एकान्त-सखा और परम ज्ञानी कहलाते हैं। इसी से पाठक गोपिकाओं के अनुराग का अनुमान लगा सकते हैं, तभी तो भक्ति सिद्धान्ताचार्य भगवान् नारदजी ने अपने भक्ति सूत्र में कहा है—"सातस्मै परम प्रेम रूपा तथा व्रज गोपिकानाम्" उन अन्तर्यामी के प्रति परोक्ष होना ही भक्ति है, उसका सर्वोत्कृष्ट—उदाहरण व्रज की गोपिकायें ही हैं इसलिये उद्धव कहते हैं—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्‌गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

उन व्रजरमणियों की चरण धूलि को मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ, जिनकी प्रभु प्रेम सम्बन्धी कथाओं से यह त्रैलोक्य पावन बनता है। अहा! उन भाग्यवती व्रजबालाओं का प्रेम कितना उत्कृष्ट होगा ? इसकी अनुभूति तो अलग की बात है, उसका समझना भी अत्यन्त ही दुष्कर है, बड़ा ही कठिन है।

प्रेम की परिपक्वावस्था का ही नाम विरह है। भगवान् क्या कभी गोपिकाओं से पृथक् रह सकते हैं ? क्या धवलता को निकाल देने पर दुग्ध का अस्तित्व रह सकता है ? क्या उष्णता को पृथक् कर देने पर उसे कोई अग्नि कह सकता है ? मथुरा तो बहुत दूर है, वृन्दावन विहारी रसिक तो उन गोपि-

काओं के बृन्दवन को छोड़कर एक पैर भी आगे नहीं जाते। रास कुछ एक दिन ही में तो समाप्त हो नहीं गया। यह तो नित्य की वस्तु है सदा सर्वदा का व्यापार है। सब कोई उसे समझ नहीं सकते, फिर अनुभव करना तो किसी भाग्यशाली के ही भाग्य में बदा है। उसे देखने वाला तो वही है, उसी का प्रति-बिम्ब है, उसके लिये तो कहें ही क्या ?

उस अनिर्वचनीय अलौकिक प्रेम का स्मरण करके एक दिन श्री जी बड़ी ही अधीर हो उठीं। जगन्माता के मन में लोककल्याण के निमित्त एक भाव प्रस्फुटित हुआ। कलिकाल के प्राणी सामर्थ्यहीन, श्रद्धाहीन, विचारहीन और प्रेमशून्य होंगे। इन रहस्य की बातों को वे केवल कवि की कल्पना ही समझेंगे। मर्त्यलोक में भला ऐसा दिव्य प्रेम किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, इस पर सहसा कोई विश्वास न करेंगे। यदि इस प्रेम पर से विश्वास उठ गया तो यह जगत् आनन्द शून्य और सुख से हीन हो जायगा। अतः पृथ्वी पर इस प्रेम को प्रकट करना चाहिये। जिससे ये अशान्ति के पिंजड़े में फँसे हुए प्राणी उसे प्रत्यक्ष देख सकें और उसका अनुसरण और अनुकरण कर सकें।"

बस, फिर क्या था श्रीजी के संकल्प मात्र से ही यह सम्पूर्ण सृष्टि पलक मारते ही उत्पन्न हो जाती है। अपने निकट में खड़ी हुई अपनी एक अत्यन्त ही प्रिय सखी को श्री जी ने आज्ञा दी—

"प्यारी, सखी ! तुम्हें एक काम करना होगा ?"

"श्रीजी की आज्ञा होने पर मैं कठिन-से-कठिन भी काम कर सकूँगी।"

"नहीं, प्यारी यह तुम्हारे लिये अत्यन्त कठिन होगा। तुम्हें

नीचे उतरना होगा। मर्त्यलोक के सामने दिव्य प्रेम का आदर्श रखना होगा। बस, थोड़े ही दिन मर्त्यलोक में रहकर फिर हमारे मण्डल में आ जाना।" प्रेम से हाथ थामे हुए श्रीजी ने कहा।

नीचा सिर किये हुए उस परम प्रिय प्रधान सखी ने कहा—"श्रीजी की सभी आज्ञायें मुझे स्वीकार हैं, किन्तु मेरी एक भिक्षा है।"

"वह क्या ?" अत्यन्त ही स्नेहस्निग्ध वाक्यों से श्रीजी ने पूछा।

लजाते हुए सखी ने कहा—"यही कि मर्त्यलोक में भी श्यामसुन्दर ही मेरे प्राणाधार पति बनें, वे ही मुझे प्रत्यक्ष रूप से अपनावें। तब तो मैं इस आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करूँगी, नहीं तो आज्ञा पालन तो सभी दशाओं में करनी ही पड़ेगी।"

श्रीजी मुस्कराईं हँसीं और बोलीं—"बहुत माँग लिया, किन्तु मैं तुझे यह वर दिलाऊँगी तुझे लोक कल्याण का यह कार्य करना ही होगा।"

महारास के समय श्रीजी ने रासविहारी श्यामसुन्दर के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा। सखी सङ्कोच से नीचा सिर किये खड़ी थीं। श्रीजी की सम्मति, समर्थन, अनुमोदन सभी थे। बाँके-बिहारी ने श्रीजी की आज्ञा बहाल की और सखी का हाथ थाम कर प्रेम से वरदान दिया "एवमस्तु" ऐसा ही होगा। हम पति रूप में तुम्हें मर्त्यलोक में वरण करेंगे। सखी प्रसन्न हुई, श्रीजी का संकल्प पूरा हुआ। वही सखी वीर भूमि राजपूताने में आकर प्रकट हुई, जिनका नाम हुआ मीरा बाई।

मीराबाई जगत् में मातृरूप में या पत्नी रूप में अवतरित

नहीं हुई थीं। उन्होंने जगत् को अपना भाई माना और उनका सभी प्राणियों से सदा एक ही नाता रहा। उनकी दृष्टि में सभी प्राणी उनके सहोदर भाई ही थे। जैसे श्रीगङ्गाजी हमारी भी माता हैं, हमारे पिता की भी माता हैं, पितामह, प्रपितामह की वे माता ही हैं, दादी किसी की नहीं। इसी प्रकार मीरा सभी की बहिन हैं, वे जगत् भगिनी के रूप में अवतरित हुई थीं। इसी से वे बाई (बहिन) मीरा कही गईं। बस, एक श्यामसुन्दर से तो उनका दूसरा सम्बन्ध था। क्योंकि वे इसी वरदान के आधार पर ही तो अवनि पर अवतीर्ण हुई थीं। उन्होंने स्वयं गाया है—

मेह बरसवो करेर।

आज तो रमियो मेरे घर रे॥

नान्ही नान्ही बूँद मेघ घन बरसे, सूखे सरबर भरे रे॥१॥
बहुत दिनाँ पै प्रीतम पायो, बिछुरन को मोहि डर रे॥२॥
मीरा कहे अति नेह जुड्यो, मैं लियो पुरबलो वर रे॥३॥

—:❀:—

वंश-परिचय और जन्म

आस्फोटन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः ।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स न त्राता भविष्यति ।।*

जीवन के असली माने हैं "मृत्यु की कभी न परवाह करना" जिन्होंने इस नश्वर शरीर के ही पालन पोषण और स्थाई बनाने में भाँति-भाँति के प्रयत्न किये हैं, काल ने उनको भी नहीं छोड़ा है और जो सदा मृत्यु के मुख में घुसते रहे हैं, शरीर की जिन्होंने कभी परवाह ही नहीं की है, वे वीर भी मृत्यु के सिर पर पैर रख कर परलोकगामी हुए हैं। दोनों का ही शरीर अब पृथ्वी पर नहीं है, किन्तु शरीर के लालन-पालन में ही प्रयत्न करने वाले करोड़ों, अरबों असंख्यों पुरुषों के कोई नाम तक नहीं जानता। किन्तु जो स्वेच्छा पूर्वक मृत्यु से लड़ते रहे हैं, उनकी कीर्ति अभी तक संसार में अजर अमर है और तब तक रहेगी जब तक कि ये पृथ्वी, तारे, सूर्य, चन्द्रमा और समुद्र विद्यमान हैं। वे मरकर भी अभी जीवित हैं, क्योंकि 'कीर्तिर्यस्य स जीवति, जिसकी कीर्ति विद्यमान है, उसे मरा कहने वाला स्वयं मुरदा है। मुरदे की बात का भला विश्वास ही क्या ?

---

* जब पितरों को पता चला कि हमारे वंश में कोई वैष्णव उत्पन्न हुआ है, तो वे मारे खुशी के नाचने-कूदने और ताल ठोकने लगते है कि अवश्य ही हमारा उद्धार करेगा, क्योंकि एक वैष्णव अपनी २१ पीढ़ियों को तार देता है।"

धन्य हैं वे क्षत्रिय जो अपनी वीरता के कारण अभी तक जीवित हैं। क्षत्रिय धर्म कितना कठोर है ? इसमें कितना तेज है ? कैसा गौरव है, कितना महान् है ? उसमें न प्राणों की परवाह न परिजनों की चिन्ता। बस, कार्य वा साधयामि शरीरं वा पातयामि" यही क्षत्रियों का मूल मन्त्र रहा है। युद्ध उनके लिये उतनी ही प्यारी चीज है, जितनी कि बच्चों के लिये सुन्दर-सुन्दर मिठाई। जैसे बच्चे मिठाई का नाम सुनते ही हर्ष से उछलने लगते हैं, उसी तरह युद्ध प्रसङ्ग आते ही क्षत्रिय वीरों का कालेजा बाँसों उछलने लगता था। उस समय वे धन की, मन की, राज्य सिंहासन की, प्यारी पत्नी की, दुधमुँहें बच्चों की शरीर सुख की, यहाँ तक कि प्राणों की भी कुछ परवाह नहीं करते थे।

पाठक, तनिक कल्पना तो करें टोंकटोड़ा के सोलंकी राय सुरतान का राज्य एक पठान ने जीत लिया। वह बिचारा राज्य भ्रष्ट होकर अपनी पुत्री ताराबाई को साथ लेकर चित्तौड़ राज्य की छत्रछाया में अपनी विपत्ति के दिन काटने लगा। ताराबाई अद्वितीय रूप लावण्युक्त ललना थी। वह जितनी ही अधिक अनुपमेय सुन्दरी थी, उतनी ही अधिक पराक्रमशालिनी भी थी। उसके रूप सौंदर्य और गुणों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। अनेक राजकुमार उस ललना रत्न के लेने के लिये लालायित थे। अनेकों ने उसके पिता से प्रार्थना की, उन्होंने स्वीकार नहीं किया ' चित्तौड़ की गद्दी के उत्तराधिकारी राजकुमार जयमल तो उसके लिये अधीर हो उठे। उसके प्रस्ताव को भी राव सुरतान ने नामंजूर कर दिया। तब उसने कुमारी ताराबाई को पत्र लिखा। उस वीर कुमारी ने साफ कह दिया मैं उसके साथ विवाह करूँगी जो मेरे पिता के राज्य को उस पठान से छीन

कर मेरे पिता को दे दे। जयमाल ने उसे स्वीकार किया, किन्तु वह तो कामान्ध हो रहा था, उसने सम्बन्ध होने के पहिले ही ताराबाई से भेंट करनी चाही। यह उस राजपूत के लिये घोर अपमान की बात थी। ज्यों ही जयमल मिलने गया कि उस क्षत्रिय पिता ने उस राजकुमार का सिर धड़ से अलग कर दिया। क्षत्रिय जानता था जिसके राज्य में मुझे शरण मिली है, वे महाराणा रायमल एक परम प्रतिष्ठित शक्ति सम्पन्न सम्राट् हैं, किन्तु प्रतिष्ठा के सामने किसी की क्या परवाह। महाराणा ने भी जब यह बात सुनी तो वे प्रसन्न ही हुए। तभी उनके द्वितीय पुत्र पृथ्वीराज ने ताराबाई के प्रस्ताव को स्वीकार किया। ताराबाई का विवाह पृथ्वीराज से हो गया। विवाह होते ही वह वीर उस शक्तिशाली पठान को जीतने चल पड़ा। साथ में वीर वेष धारिणी ताराबाई भी थी। भयङ्कर युद्ध हुआ। विजय ने भी पृथ्वीराज को ही वरण किया। ताराबाई के पिता का राज्य मिल गया। तब वे दम्पति आपस में मिले।

सोचिये तो भला कितना भारी त्याग, कितना जबरदस्त आदर्श है। लड़ने चल रहे हैं तो क्या पता जीते लौटेंगे या नहीं। जिस ललना-ललाम के लिये लाखों राजकुमार ललचाते थे, उसे प्राप्त करके भी वे हँसते-हँसते युद्ध के लिये चले गये और साथ में वह सुन्दरी भी थी। एक नहीं ऐसे हजारों लाखों सच्चे प्रमाण इस भारत भूमि के क्षत्रियों के विशेष कर वीरभूमि मेवाड़ के इतिहास में मिलेंगे। जहाँ की सुकुमार रमणियाँ हँसते-हँसते चिताओं पर चढ़ गईं। जिस पद्मिनी के लिये मुगल सम्राट् ने लाखों आदमियों की बलि दी, वह अन्त में अपने सतीत्व की रक्षा के लिये प्रसन्नता पूर्वक अग्नि में बिलीन हो गई। तभी तो वीर क्षत्रियों की गति परिव्राजक योगियों के समान बताई गई है।

अत्यन्त ही दुख की बात है कि जिस भारतभूमि पर ऐसे करोड़ों क्षत्रिय थे, वहाँ आज एक भी ऐसा क्षत्रिय नहीं, जो धर्म के लिये सब कुछ कर सके। यदि कोई है तो उसके चरणों में हमारा प्रणाम है।

मेवाड़ और मारवाड़ इन दोनों राज्यों का सम्बन्ध बहुत पुराना चला आता है। मेवाड़ के बहुत से महाराज अपनी शूर-वीरता के लिये संसार में प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक राणा लाखा भी है। महाराणा लाखा के सबसे बड़े पुत्र चूड़ावतजी ही राज्य के अधिकारी थे, उनसे अपनी बहिन का सम्बन्ध करने के लिये मारवाड़ के राव रणमलजी ने अपने पुरोहित को भेजा। युवराज वहाँ थे नहीं। हँसी में महाराणा लाखा ने कह दिया इस सफेद दाढ़ी पर अब कौन टीका चढ़ावेगा। बस, इसी पर चूड़ावत अड़ गये कि यह लड़की तो मेरी माता हो चुकी। सभी ने समझाया, महाराणा ने भाँति-भाँति से ऊँची-नीची सुझाई वीर क्षत्रिय अपने सिद्धान्त पर अड़ गया। विवश होकर महाराणा ने कहा—"तब राज्य का अधिकारी भी इस लड़की का ही लड़का होगा, तुम्हें राज्य न मिलेगा।" चूड़ा ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। राव की लड़की का विवाह बूढ़े राणा के साथ हो गया, उसके गर्भ-से कुमार मोकल का जन्म हुआ। मोकल ५ वर्ष का ही था कि-राणा चल बसे। चूड़ावत की सहायता से मोकल मेवाड़ का राज्य करने लगे। राव रणमल आदि के बहकाने से राजमाता ने चूड़ा-वत पर सन्देह किया, वे तुरन्त ही राज्य छोड़कर चले गये। इधर राणा मोकल की हत्या उनके दो चाचाओं ने कर दी और उनमें से एक राजा बन बैठा। इस पर मारवाड़ के राव रणमल जी ने उन दोनों को मारकर चित्तौड़ की गद्दी पर राणा मोकल के पुत्र महाराणा कुम्भाजी को बैठाया। कुम्भाजी अभी बालक

ही थे अतः राव रणमल ही राजमाता की आज्ञा से राजकाज करते थे। उनकी नीयत खराब हो गई और वे चित्तौड़ पर अपना कब्जा करने लगे। राजमाता ने भाई की इस कुटिलता की सूचना चूड़ा जी को दी और उनकी सहायता चाही। चूड़ा जी ने आकर रणमल जी के आदमियों को हराया और स्वयं राव रणमल भी अपने पाप के कारण मारे गये। उनके पुत्र राव जोधा छिपकर भाग गये। मारवाड़ राज्य के ऊपर भी चित्तौड़ के राणा का झण्डा फहराने लगा और वहाँ का सभी प्रबन्ध मेवाड़ के क्षत्रिय करने लगे।

जोधा जी वीर क्षत्रिय थे। उन्होंने कई बार अपने पैतृक राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे और असहाय होकर जङ्गल में मारे-मारे फिरने लगे। चित्तौड़ की राजमाता ने जब यह समाचार सुना, उन्होंने कुम्भाजी से कहा—"बेटा! कैसे भी हो जोधा मेरे भाई का लड़का है। वह मारा-मारा फिरता है, उसे कहीं आश्रय दो।" राजमाता की शिफारिश से कुम्भा जी ने यह स्वीकार किया, "अबकी चढ़ाई करेगा तो हम सामना न करेंगे।" राजमाता ने यह सन्देश जोधा जी के पास भेज दिया। जोधाजी ने चढ़ाई की और उन्होंने अपना पैतृक राज्य फिर से प्राप्त कर लिया।

राव जोधाजी बड़े पराक्रमी थे। उनके जमाने में मंडोर (मारवाड़) की खूब उन्नति हुई। अपने ही नाम से उन्होंने जोधपुर नगर बसाया और वे सुख से राज्य करने लगे।

उनके चार पुत्रों में से सबसे छोटे पुत्र राव दूदाजी हुए। राजाओं के यहाँ नियम है कि चाहे कितने पुत्र हों, राज्य का अधिकार तो सबसे बड़े पुत्र को ही होगा, शेष पुत्रों को निर्वाह करने के लिये कुछ गाँव मिल जायँगे। इसी नियमानुसार दूदा

जी को कुछ गाँव मिलने चाहिये थे, किन्तु वे तो अपने को स्वाधीन राज्य सिंहासन पर देखना चाहते थे, अतः उन्होंने अपने बाहुबल से एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और मेड़ता को अपनी राजधानी बनाकर वहाँ अपना राज्य करने लगे। जैसे चित्तौड़ के राजवंश सिसोदिया कहाते हैं वैसे ही मारवाड़ के राजपूत राठौर के नाम से प्रसिद्ध हैं। दुदाजी राठौर ही थे, किन्तु मेड़ता को अपनी राजधानी बनाने के कारण इनके वंशज अपने को मेड़तिया या मेड़तणा कहने लगे।

राव दूदा के चार पुत्र थे। सबसे बड़े रावदेव थे और सबसे छोटे रतनसिंह जी थे। इन्हीं स्वनाम धन्य राठौर रतनसिंह जी को मीराबाई के पिता होने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोग पुत्र की कामना इसलिये करते हैं कि हमारा नाम बना रहे, वंश चले। यद्यपि श्री रतनसिंह जी के कोई पुत्र नहीं था, किन्तु उन भाग्यशाली राजपूत का अपनी सौभाग्यशालिनी सदा सुहागिनी पुत्री के कारण ही नाम अजर अमर हो गया। राज्यकुल के नियमानुसार श्री रतनसिंहजी को मेड़ता राज्य की ओर से निर्वाह के लिये कुड़की वाजोली आदि बारह गाँव मिले थे। उन्हीं में से कुड़की गाँव में मीराबाई का जन्म हुआ।

इनके पिता बड़े लड़ाकू क्षत्रिय थे। उनका अधिकांश समय युद्धों में ही बीतता था। कहते हैं, बाल्यकाल में ही मीरा की जन्मदात्री जननी इस असार संसार को त्यागकर चल बसीं। तब इनके पितामह राव दूदाजी ने कुड़की से इन्हें बुलाकर अपने पास मेड़ते में ही रखा। वहाँ इनकी ताई राव वीरमदेव की स्त्री ने इनका लालन-पालन किया। मीरा उसे अपनी सगी माता ही मानती थी और उसी तरह का व्यवहार करती थी।

वीरमदेव और उनकी पत्नी भी उन्हें अपनी सगी पुत्री की ही तरह रखते थे और मीरा की मङ्गल कामना के लिये भाँति-भाँति से भगवान् से प्रार्थना करते थे। इनके पितामह दूदाजी तथा ताऊ वीरमदेवजी सभी मीरा के सरल स्वभाव के कारण उस पर मुग्ध थे।

बाल्य-काल

प्रथमे वयसि यः शान्तः सः शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥*

कहावत है—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" सचमुच में जितने भी भक्त महापुरुष तथा अलौकिक गुण वाले मनुष्य हुए हैं, उनकी प्रतिभा बाल्यकाल से ही विलक्षण रही है। सभी गुण जन्म मन्मान्तरों के संस्कारों से ही प्राप्त होते हैं। भगवत् प्रेम तो बिना अनन्त जन्मों के पुण्य, प्रताप और अभ्यास के प्राप्त हो ही नहीं सकता। भगवान् स्वयं कहते हैं—"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति पराङ्गतिम्।" बहुत से जन्मों के अभ्यास करते-करते जब वह अभ्यास अन्तिम जन्म में परिपक्क हो जाता है तो जीव आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है।

यह तो उन मुमुक्षु जीवों के लिये है, जो अभ्यास वैराग्यादि साधनों द्वारा प्रभु को प्राप्त करने के लिये यत्नवान् रहते हैं। किन्तु कुछ नित्य मुक्त जीव भी किसी विशिष्ट प्रयोजन वश भगवत् प्रेरणा से इस अवनि पर अवतरित होते हैं, उनके पीछे संचित प्रारब्ध आदि कर्म नहीं होते, न उन्हें क्रियमाण कर्मों का ही फल भोगना पड़ता है, वे तो लोक शिक्षा के लिये वैसे

---

* जो पहली अवस्था में—बाल्य-काल में ही—शान्त स्वभाव वाला है, असल में उसे ही यथार्थ शान्त कहना चाहिये। इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर तो सभी अपने आप शान्त हो जाते है।

ही अवतरित होते हैं और अपने जीवन से शिक्षा देकर फिर अपने सत् स्वरूप में मिल जाते हैं। उनका निरन्तर का काम ही रमण बिहारी के साथ रमण करना है, अतः वे अपने अभ्यासानुसार आते ही उसी प्रकार की सभी क्रियायें करने लगते हैं। गौ के बच्चे को पैदा होते ही स्तन पिलाना कौन सिखाता है ? उसे यह कौन बताता है कि माता के स्तनों में दूध भरा हुआ है ? पैदा होते ही वह स्तनों को खोजने लगता है और दूध पीने लगता है, क्योंकि वह जन्म जन्मान्तरों में अनेक माताओं के दूध को पी चुका है, उसे अनन्त जन्मों से दूध पीने का पुराना अभ्यास है। इसीलिये कहा है—"क्रियते ह्यवशोऽपि-तत्" मनुष्य अपने स्वभावानुकूल कर्म के अवश होकर भी करता रहता है।

मीराबाई अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान थी। माता-पिता को अपनी सन्तान कितनी प्यारी होती है इसे माता-पिता के हृदय के सिवाय दूसरा कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। जिसने मातृत्व का अनुभव नहीं किया, वह सन्तान की ममता को क्या जाने ? कहावत है—बाँझ क्या जाने प्रसव की पीर।" जनने की पीर जिस प्रकार बताकर नहीं समझाई जा सकती, उसी प्रकार मातृत्व की ममता पढ़कर, सुनकर समझ में नहीं आ सकती। माता-पिता के लिये सन्तान हृदय का टुकड़ा है, बाहर घूमने वाले प्राण हैं। बुरी-से-बुरी सन्तान के मोह को भी माता-पिता नहीं छोड़ सकते।

मीरा बाल्य-काल से ही बड़ी शान्त बालिका थी। वह जितनी ही अधिक सुन्दर थी, उतना ही अधिक उसके मुख-मण्डल पर आकर्षण था। उसका हँसना, तुतलाकर बोलना, किलकारियाँ मारना, तोतली वाणी से भाई, बापू कहना बड़ा ही भला लगता।

माता पुत्री के अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध थी। वह मीरा के ऊपर बार-बार तृण तोड़ती, उसकी बलैया लेती। बार-बार उसका मुँह चूमती, चुचकारती, पुचकारती और प्यार करती। खिलाते-खिलाते कहती—"मेरी रानी! मेरी बच्ची!" मीरा हँस जाती, माता फिर उसे चूम लेती।

इस प्रकार माता के अनन्त प्रेम, पिता की बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ मीरा बढ़ने लगी। अब वह सखियों में खेलने लगी। खेल भी वैसे ही—भगवान् की प्रतिमा बनाना, उनकी पूजा करना, भोग लगाना, सभी सहेलियों में प्रसाद बाँटना यही उनका दैनिक खेल था। माता-पिता धार्मिक थे। वे भगवान् के मन्दिर में जाते तो मीरा भी उनके साथ सदा रहती। माता अपनी लाड़िली लड़ैती एकलौती लड़की को कभी भी अपनी दृष्टि से अलग होने देना नहीं चाहती थी। माता जब-जब भगवान् के दर्शनों को जाती, तब-तब मीरा भी जाती। यहाँ तक की माता कभी देर भी करती तो मीरा उसे याद दिलाती, आग्रह करती, रोने लगती और माता को मन्दिर में चलने के लिये विवश करती। इस प्रकार बाल्य-काल से ही उसकी भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रीति थी। वह भगवान् के सामने अपनी सरल और तोतली वाणी से कुछ गुनगुनाया भी करती थी, किन्तु उस गुन-गुनाहट का अर्थ और कोई नहीं समझता था, क्योंकि बालक अण्ट-सण्ट बका ही करते हैं, बड़े लोग उधर ध्यान नहीं देते, किन्तु जिन्हें लक्ष्य करके वह गुनगुनाती थी, वे तो उसकी बातों पर खूब ध्यान देते और उसे प्रेमपूर्वक सुनते हैं। बस मीरा को उन्हें ही सुनना था, उसे लोगों को समझाने की इच्छा भी नहीं थी।

इस प्रकार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की किरणों के समान वह

सर्व रूप गुणशील सम्पन्न बालिका धीरे-धीरे बढ़ने लगी। उसी अवस्था में गाँव में एक बरात आई। बरात उस बालिका की थी जो मीरा की अत्यन्त ही प्यारी सखी थी और जो उसके साथ खेला करती थी। बालकों का स्वभाव ही होता है, कहीं बाजा बजे, कहीं तमाशा हो तो वे सबसे पहले देखने के लिये लालायित होंगे। बरात को देखने के लिये मीरा भी अपनी माता के साथ छत पर गई। बड़ी भीड़ थी, आगे-आगे बाजे बजते जाते थे, एक हाथी के हौदे पर मौर बाँधे दूल्हा बैठा था। बाल्य-सुलभ चंचलतावश मीरा ने अपनी माता से पूछा—"अम्मा! यह कौन है और यह सिर पर क्या चमकीला-चमकीला बाँधे है?"

माता ने कहा—"बेटी! यह दूल्हा है, इसी के साथ तेरी सखी का विवाह होगा।"

मीरा ने पूछा—"अम्मा! वह मेरी सखी अब कब यहाँ खेलने मेरे साथ आवेगा?"

माता ने कहा—"बेटी! अब वह खेलने न आवेगी, इसी दूल्हा के साथ चली जावेगी?"

मीरा ने कुछ जोर देकर पूछा—"माँ! मैं तो उसे बहुत अधिक प्यार करती थी, यह दूल्हा उसे उतना प्यार करेगा क्या? वहाँ कैसे रहेगी?"

माता ने कहा—"हाँ बेटी! यह तुमसे भी ज्यादा प्यार करेगा, फिर भी लौटकर आवेगी, किन्तु फिर चली जायगी। अब उसे वहीं अपनी ससुराल में रहना पड़ेगा।"

मीरा ने पूछा—"अम्मा! तो मेरा दूल्हा कहाँ है? मैं भी उसे प्यार करूँगी।"

छोटे बच्चों के बड़े अण्ट-सण्ट प्रश्न होते हैं, जिन्हें कभी

नन्हें-नन्हें बच्चों के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वे खूब जानते होंगे कि बच्चे कैसे-कैसे विलक्षण प्रश्न पूछते हैं। उनके सामने जो भी चीज आ जाय, उसके बारे में पूछेंगे। यह क्या है, कहाँ से आई कौन लाया और जाने क्या-क्या पूछते हैं। सभी को या तो प्रेम से चपत लगाकर उन्हें इधर-उधर की बातों में बहकाना पड़ता है या बात टालने के लिये कोई अंट-संट उत्तर दे देते हैं। उनके साथ बातें करने में झूठ सच का ध्यान नहीं रखा जाता। मीरा इस बात पर अड़ गई कि अम्मा मुझे मेरे दूल्हा को बता ही दे। माता ने बात टालने के लिये वैसे ही मन्दिर की तरफ उँगली उठाकर बता दिया, "तेरे दूल्हा ये ही हैं।" बस बालिका ही तो थी। बात टल गई, वह बहल गई। माता अपनी पुत्री के साथ नीचे आई माता को इस प्रकार टालने के लिये ऐसे उत्तर देने की आदत ही थी, उसके ऊपर इस बात का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु मीरा के हृदय में बात बैठ गई कि जो सखी स्यानी होकर अपने पति के यहाँ हमारा प्रेम छोड़कर चली जाती है, उनसे प्रेम का नाता तोड़कर ऐसे पति से प्रेम करना चाहिये, जिससे कभी नाता न टूटे। उसे फिर कहीं भी न जाने देना चाहिये। जैसे भी वह रीझे उसे रिझाना ही चाहिये। इसी बात को लक्ष्य करके आगे चलकर उसने ऐसे गाया था—

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो री सखी! मिलि राखिए, नैनानि रस पीजै हो।
स्याम सलोनो साँवरो, मुख देखत जीजै हो॥
जोइ जोइ भेष सों हरि मिलें सोइ सोइ कीजै हो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बड़ भागन रीझै हो॥

———

गिरिधर लाल जी

श्री विष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥*

कुछ काम तो ऐसे होते हैं, जिन्हें हम बड़े प्रयत्न से सिखाते हैं किन्तु जो फिर भी जैसे होने चाहिये नहीं होते और कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें हम पेट से ही साथ लेकर पैदा होते हैं और बाल्य-काल से बिना किसी के सिखाये-पढ़ाये करने लगते हैं। इसी सिद्धान्त से भक्ति में दो भेद पूर्वाचार्यों ने बताये हैं—गौणी और वैधी। जो स्वाभाविक गुण हो, बिना किसी प्रमाण के हृदय बिना भक्ति किये रहे ही नहीं, जैसे पानी के बिना कंठ सूखता है, तड़पन होती है, इसी तरह भक्ति के लिये तड़पन हो। संसारी कोई काम, कोई सुख, कोई सम्बन्धी अच्छा ही न प्रतीत हो—यह तो गौणी भक्ति है। दूसरी भक्ति वैधी है—जो शास्त्रों में पढ़कर गुरुजनों के उपदेशों से तथा कर्तव्य मानकर की जाती है। वैसे तो किसी भी तरह भगवत-भक्ति हो श्रेष्ठ ही है, किन्तु स्वाभाविक भक्ति में अभ्यास से प्राप्त की जाने वाली भक्ति की अपेक्षा बात ही और है।

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, घट-घट वासी हैं, भक्तों के 'वांछाकल्पतरु' हैं उसकी इच्छाओं के पूरक हैं। भगवान् के लिये

---

* इस मर्त्यलोक में जन्म लेने पर जो मनुष्य श्रीविष्णु भगवान् के श्रीविग्रह का अर्चन-पूजन करते है, वे निस्संशय ही शाश्वत, सनातन आनन्द श्रीविष्णु के परमपद को प्राप्त होते हैं।

कुछ असम्भव नहीं, कुछ अकर्तव्य नहीं। छोटे-बड़े कामों की कल्पना तो हम क्षुद्र, सीमित, एक देशीय, अल्पज्ञ जीवों ने कर रखी है। वे तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्, छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े हैं। वे अपरिमित हैं। सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा सभी रूपों में हैं। भक्त को जो भी रूप रुचिकर होता है, उसी रूप में वे प्रकट होते हैं—सामने आते हैं। इसमें उन्हें श्रम नहीं, कष्ट नहीं, उनके सर्वान्तर्यामीपने में बाधा भी नहीं पड़ती। आपका हृदयपात्र टेढ़ा-मेढ़ा, गोल-लम्बा जैसा भी होगा उसमें व्यापने वाले आकाश का भी वैसा ही रूप बन जायगा। उसमें स्थित आकाश उस महत् आकाश से भिन्न नहीं, पृथक् नहीं। भगवान् भक्त के अधीन हैं, वे स्वयं कहते हैं—

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मोरी, यह ब्रत टरत न टारे।

भगवान् के अवतारों का एकमात्र प्रयोजन 'साधुपरित्राण' या भक्तों को सुख देना ही है। दुष्ट-संहारादि काम तो भगवान् की भ्रुकुटी मात्र के संकेत से हो सकते हैं, किन्तु भक्तों को उनकी लीला, गुण और यश वर्णन में आनन्द आता है, इसीलिये वे शूकर, कच्छ, मच्छ, बाराह, वस्त्र आदि के रूप में भी अवतरित होते हैं और भक्तों को सुख देते हैं। नर रूप में वे श्रीगुरुनाम से नित्य ही मूर्तिमान विराजित हैं। श्रद्धा के लिये साधु-संत का रूप धारण करके अवनि पर विचरते रहते हैं। कबीरजी ने कहा है—

निराकार की आरसी, साधौं ही की देहु।
लखा जो चाहे अलख को, इनही में लख लेहु॥

भक्ति के लिये वे अपने अनेक श्रीविग्रह बनाकर साक्षात् अपने ही प्रतिमा-रूप से प्रकट हैं। जहाँ भी भक्ति कीजिये,

उनका साक्षात्कार होगा। जिस लकड़ी को घिसो उसी में से अग्नि प्रकट हो जायगी। कहीं से आवेगी थोड़े ही उसमें तो वह नित्य निवास करती है--व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से रहती है।

मीराबाई रूप की उपासिका थी। रूप तो सभी अपने स्वामी के ही हैं किन्तु एक रूप नैनों में ऐसा गड़ जाता है कि फिर उसके सिवाय दूसरा रूप दिखता ही नहीं। भक्त यह जानता हुआ भी कि यह मेरे स्वामी की छबि है, वह अपने मनमाने रूप में ही अपने आराध्य देव को सदा देखना चाहता है। इसीलिये तो व्रज में हँसकर विनोद के साथ तुलसीदास जी ने कहा था—

कहा कहौं छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक नवत है, धनुष बाण लेउ हाथ॥

बस, फिर क्या था? तुलसी ने मस्तक नवाकर ज्यों ही दृष्टि उठकर फिर देखा, तो भक्त इच्छा कल्पतरु प्रभु और ही दीखने लगे—

कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गोपियन को साथ।
अपने जनके कारणें, श्रीकृष्ण भये रघुनाथ॥

इसी तरह मीरा तो कहती है 'बसो मेरे नैंनन में नन्दलाल, कैसे रूप से? यही कि 'मोहिनी मूरति साँवरि सूरति, नैंना बने विशाल। अधर-सुधा रस मुरली राजत, उर वैजन्तीमाल।'

भगवान् भी इसी रूप से उसकी रूप तृष्णा को शान्त करने पधारे। मीराबाई के पिता के यहाँ एक साधु महात्मा आये और कुछ दिन उन्होंने वहाँ निवास किया। मीरा तो प्रेम की दिवानी थी ही। अपने प्यारे के सम्बन्धियों के संसर्ग में भी सुख मानती थी। वह मन्दिर में भगवान् की झाँकी तो रोज

करती थी, किन्तु उसकी हार्दिक इच्छा थी—एक नन्हें से, सुन्दर से, सलौने से मुरलीमनोहर मेरे भी पास आ जायँ तो मैं भी खूब रच-पचकर उनकी सेवा करूँ। पुजारी जी सेवा करते हैं, मैं प्यासी ही रह जाती हूँ। वे पट बन्द कर देते हैं, अपने देव की सुश्रूषा स्वयं इन हाथों से होती तो बहुत ही सुन्दर बात थी। जो साधु महाराज उनके यहाँ ठहरे थे, उनके पास एक बड़ी ही सुन्दर, मनोहर बाँकी चितवन वाली श्यामसुन्दर की मनमोहक मूर्ति थी मीरा की दृष्टि उसमें गड़ गई। उसके प्राण उन साँवली मूरति के लिये तड़पने लगे। उसने अपने पिता से कहा—

"पिताजी ! साधु बाबा के पास जो श्यामसुन्दर हैं उन्हें मुझे दिला दीजिये।" पिता ने बहुत समझाया—"बेटी ? साधु महात्मा अपने भगवान् को किसी को देते थोड़े ही हैं। अपने यहाँ क्या भगवान् नहीं हैं ? फिर तू कहेगी तो और मँगा देंगे।" किन्तु मीरा कब मानने वाली थी, उसके नैनों में तो वही रूप-माधुरी बस गई थी। उसने कहा—"नहीं पिता जी ! मैं तो इसे ही लूँगी।" वे लाचार थे, विवश थे। करते भी तो क्या करते ? मीरा अपनी बात पर अड़ गई। कहावत है, 'बालहठ और त्रियाहठ कठिन होती है। 'बालहठ में ध्रुवजी का दृष्टान्त दिया जाता है सबने समझाया नारदजी ने ऊँचा-नीचा दिखाया, किन्तु उसने अपना हठ नहीं छोड़ा, पूरा करके ही दम लिया। इसी तरह कैकेयी आदि ने अपना हठ पूरा किया। यहाँ भी बाल-हठ था। पिता ने साधु जी से प्रार्थना की किन्तु वे साधु कुछ धन के लोभी तो थे ही नहीं। राठौर रतनसिंह ने साधु की भाँति-भाँति से विनती की, प्रार्थना की, बहुत कुछ धन देने के लिये भी कहा, किन्तु साधु बाबा किसी तरह राजी नहीं हुए। अपने इष्टदेव की माँग

सुनकर वे घबड़ा गये और दूसरे दिन सूर्योदय से पहिले ही, बहुत सवेरे उठकर अपनी झोली-डण्डा बाँधकर वहाँ से खिसक गये।

सुबह मालुम हुआ कि साधु बाबा चले गये और साथ में अपने श्यामसुन्दर को भी ले गये। बालिका मीरा के ऊपर मानों वज्र गिर पड़ा। उसने खाना-पीना सब छोड़ दिया। जो मूरति उसके मन में बस गई थी, उसी का ध्यान करते हुए वह रोती रही। उसने कुछ भी काम नहीं किया। माता-पिता ने बहुत समझाया। भाँति-भाँति से बहलाया, बहुत-सी चीजें देने का वायदा किया, किन्तु मीरा ने उनकी एक भी न सुनी। वह अपनी टेक पर अड़ी रही। मुझे तो श्यामसुन्दर की मूरति चाहिये।

माता-पिता तो विवश थे, किन्तु भगवान् अपने भक्त को दुखी कैसे देख सकते हैं ? वे साधु रूपधारी भगवान् ही तो थे। अपनी रूप-माधुरी लेकर स्वयं ही पधारे थे। फिर बिना दिये चले क्यों गये ? यह उसके प्रेम को बढ़ाने की क्रिया थी। पार्वतीजी के पास भी तो शिवजी ने सप्तर्षियों को प्रेम परीक्षा लेने ही के लिये भेजा था। मीरा का चित्त उस मनमोहक मूर्ति में और भी अधिक गड़ गया। फिर एक यह भी बात है कि जो वस्तु जितनी ही कठिनता से, चिरकाल की साधना और तपस्या से मिलती है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। सहज में सस्ते में मिली चीज की उतनी प्रतिष्ठा नहीं होती। इधर मीरा का यह हाल था, उधर साधु बाबा को रात्रि में स्वप्न हुआ। मानों भगवान् कह रहे हैं—"मेरे प्यारे! मैं तुम्हारे साथ मीरा के ही लिये तो आया था। तुम्हारी साधना अब समाप्त हुई। तुम मुझे मीरा के पास ही पहुँचा दो यही मेरी आज्ञा है।"

साधु की आँखें खुली। अपने स्वामी की आज्ञा है, ऐसा सुनते ही वे लौट पड़े। हम जो भी कर रहे हैं, उनकी ही प्रसन्नता के लिये तो करते हैं। उन्हें मीरा के पास रहने में ही प्रसन्नता है तो सेवक को क्या आपत्ति? स्वामी की सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करना सेवक का परम धर्म है। साधू बाबा मूरति को लेकर राठौर रतनसिंह के महलों में पहुँचे। माता-पिता साधु की सूरत को ही देखकर खिल उठे। मीरा तो मानों निहाल हो गई। आँखों में आँसू भरकर भर्राई हुई वाणी से साधु ने कहा—"बेटी मीरा! भगवान् तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हैं। वे तुम्हारी सेवा स्वीकार करने को लालायित हैं। बेटी! तुम इन गिरिधर गोपाल जी को स्वीकार करो और प्राणों से भी अधिक इन्हें प्यार करना। ये ही तुम्हारे इष्टदेव हैं, ये ही सर्वस्व हैं। इनकी सेवा में कभी चूक मत करना। तन्मय होकर सेवा करोगी तो अनन्त सुख, शाश्वत शान्ति पाओगी।" इस प्रकार साधु रूपधारी वे भगवान् गुरुदेव ऐसा उपदेश करके उसी समय बिना कुछ लिये दिये वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

मीरा ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसे मानो सम्पूर्ण संसार का सर्वश्रेष्ठ सुख मिल गया हो। अपने चितचोर को उसने हृदय-कमल के कोमल सिंहासन पर पधरा दिया, नेत्रों के नीर ने उन्हें स्नान कराया, अन्तःकरण पर कसक से रगड़कर चन्दन चढ़ाया, भक्ति भाव के पुष्प चढ़ाये। मीरा उन गिरिधर लाल को पाकर संसार के सभी बन्धनों को भूल गई। दिन भर भगवान् की सेवा-पूजा करना, उनके लिये हार बनाना, माँला गूँथना, पूजन की सामग्रियों को इकट्ठा करना, यही उसके जीवन का दैनिक कार्य था। वह गिरिधर लाल को

पाकर उन्हीं की बन गई। उसने प्रेमभरी मस्ती में आकर गाया था—

मेरे तो गिरिधर-गुपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥
तात मात भ्रात-बन्धु, आपनो न कोई॥१॥
छोड़ दई कुल की कान का करिहैं कोई।
संतन ढिंग बैठि बैठि, लोक लाज खोई॥२॥
चुनरी के किये टूक, ओढ़ लीन्ह लोई।
मोती मूँगे उतार, बन माला पोई॥३॥
अँसुवन जल सींच सींच, प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई, होनी हो सो होई॥४॥
दूध की मथनियाँ बड़े, प्रेम से बिलोई।
माखन जब काढ़ि लियो, छाछ पिये कोई॥५॥
आई मैं भगति काज, जगत देखि मोही।
दासि मीरा गिरधर प्रभु, तारो अब मोही॥६॥
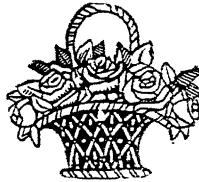
विवाह की बातचीत

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः ।
दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वा च
कन्या पितृत्वं खलु नाम कष्टम् ।।※

इस संसार रूपी रथ के पुत्र और पुत्री दो पहिये हैं। दोनों ही परम आवश्यक हैं, दोनों से ही यह चल सकता है। किन्तु आर्य धर्म में क्या समस्त धर्मों में पुत्र की अपेक्षा पुत्री की जिम्मेदारी विशेष समझी जाती है। पुत्री हमारी परम प्रतिष्ठा की चीज है। आर्य धर्म में प्रतिष्ठा के लिए नारी जाति की पवित्रता कितनी अधिक आवश्यक समझी जाती है, उतनी आवश्यक और किसी की पवित्रता नहीं समझी जाती। पुत्र यदि नालायक निकल गया तो स्वयं भोगेगा, किन्तु पुत्री के सम्बन्ध में तनिक भी गड़बड़ हुई तो कुल परम्परा से चली आयी सभी प्रतिष्ठा धूलि में मिल जायगी। हमारी नाक कट जायगी, हम लोगों के सामने क्या मुँह दिखावेंगे। पुत्र के प्रति दो कर्तव्य बताये गये—उनका पालन-पोषण करना और उसे योग्य बना देना। किन्तु पुत्री के प्रति पिता के चार कर्तव्य हैं

※ इस ससार मे पुत्री का उत्पन्न होना बड़ी चिन्ता की बात हैं। क्योंकि उत्पन्न होते ही यह चिन्ता बनी रहती है इसे किसको देना चाहिये ? देने पर भी उसे सुख मिलेगा कि नही ? यह महान् तर्क-वितर्क उत्पन्न होते रहते है। इस प्रकार कन्या का पिता होना बड़े कष्ट की बात है।"

पालन-पोषण करना, गृहकार्यों के योग्य बनाना, ये तो हैं ही इसके अतिरिक्त योग्य पति खोजकर उसे देना और उसके सुख-दुख की चिन्ता रखना। इन कामों में वह-पिता की मूर्तिमान् प्रतिष्ठा स्वयं कुछ भी सहयोग नहीं देती थी। पुरानी कहावत थी कि—

"गौ को और पुत्री को जिसके साथ भी कर दो उसी के साथ चली जायगी।"

हम सब कुछ सह सकते हैं, किन्तु यदि हमारी नारी जाति के सम्बन्ध में कोई कुछ कहे तो हमारे पूर्वजों का खून खौल उठता था। प्रायः युवक अपने ऊपर प्रहार करने वाले को क्षमा कर देते थे, किन्तु यदि उस युवक से उसकी बहिन के सम्बन्ध में कोई अनुचित शब्द कह दे तो या तो उस कहने वाले की जबान न रहेगी या युवक स्वयं ही अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देगा। वृद्ध पुरुष सब सह सकता है उसके पुत्रों को बुरा भला कहो वह हँसकर टाल देगा, किन्तु उसकी पुत्री का नाम लेते ही उसकी भौंहें चढ़ जाती थीं और वह उसी समय युवक की तरह उछलकर कहने वाले की जबान को निकालने की चेष्टा करता था। इसीलिये सम्माननीय पुरुषों के लिये पुत्री एक चिन्ता की वस्तु मानी जाती थी। कालदेव! तुम्हारी गति विचित्र है। आर्य जाति की वह प्रतिष्ठा अब धूलि में मिल गई, वह अपनी प्राचीन मर्यादा को भुला बैठी और अब "परस्पर की रुचि ही दाम्पत्य" का कारण बन गई।

हम जिस समय की बातें कह रहे हैं, उस समय के प्रायः सभी पिता अपनी प्यारी पुत्रियों के विवाह योग्य होते ही चिन्तित हो जाते थे। उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा रहती थी कि अपना सर्वस्व निछावर करके, अपने शरीर को भी बेंच

कर, अपनी प्यारी पुत्री के लिये सम्माननीय घर और सुयोग्य वर ढूँढ़कर उसके साथ उसका विवाह कर दें, जिससे उसे उम्र भर सुख मिले। सुयोग्य वर को कन्या का दान कर देने से बढ़कर आर्य धर्म में कोई बड़ा दान नहीं बताया गया है। यह विशुद्ध धार्मिक दान था, इसमें असावधानी करने से–अयोग्य को, अपात्र को अर्पण करने से–दाता गृहीता दोनों को ही उम्र भर पछताना पड़ता है।

राठौर रतनसिंह जी स्वयं राजा तो नहीं थे, किन्तु उनका जन्म जोधपुर के मेड़ता राजवंश में हुआ था। इनकी एकमात्र यही इच्छा थी कि मेरी पुत्री राजरानी हो। वह भी ऐसे राजा की पुत्र बधू हो, जो अपनी वीरता और प्रतिष्ठा के लिये भारतवर्ष में सर्वश्रेष्ठ हो।

उन दिनों प्रायः सभी राजपूताने के राजे मुसलमानों के आक्रमणों से शिथिल से हो गये थे। केवल चित्तौड़ के सिसोदिया वंश के राणा संग्रामसिंह या साँगा ही एक ऐसे थे, जो अपने नाम के लिये सर्वत्र विख्यात थे। वे तेजस्वी यशस्वी और आत्माभिमानी नरपति थे। सम्पूर्ण चित्तौड़ राज्य में ही नहीं, किन्तु पूरब से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक उनके यश सौरभ की सुवास फैली थी। वे बड़े ही राजनीतिज्ञ तथा कार्य कुशल थे। मेवाड़ के अतिरिक्त मारवाड़, अम्बेर, ग्वालियर, अजमेर, सीकरी और बूँदी आदि राज्यों के राजा इन्हें अधिपति मानते थे। अपने स्वधर्म, स्वजाति और स्वाभिमान का प्रेम इनमें कूट-कूटकर भरा था। उन दिनों ये राजपूताने के आदर्श महाराज समझे जाते थे। १५६६ वि० में सिंहनारूढ़ हुए।

उन दिनों देहली के राज्य सिंहासन पर इब्राहिम लोदी

विराजमान था। उसकी आन्तरिक इच्छा थी कि राणा साँगा को यदि मैं जीत लूँगा तो सम्पूर्ण राजपूताना मेरे अधीन हो जायगा। अतः उसने राजपूताने पर चढ़ाई कर दी। राणा साँगा ने मुसलमानी सेना को बुरी तरह हराया। लोदी जान लेकर भागा, दुबारा फिर चढ़ाई की किन्तु इब्राहीम की मनोकामना पूरी नहीं हुई। उसकी सेना का, राजपूत क्षत्रियों ने इतना विध्वन्स किया कि उसे अपनी यह इच्छा सदा के लिये छोड़नी पड़ी। इस विजय से राणा साँगा का हौंसला बहुत बढ़ गया। पास में ही जो रणथम्भौर का किला था जो राजपूतों से मुसलमानों के अधिकार में आ गया था, उसके अली नामक सूबेदार को साँगा ने मारकर उस पर अपना अधिपत्य जमा लिया और दिल्ली के सिंहासन पर भी अधिकार जमाने के लिये उन्होंने चढ़ाई की।

इन्हीं सब कारणों से राणा साँगा के गुणों का सर्वत्र गान होने लगा, राजपूताने के चारण भाट उनके नाम के गीत बनाकर गाया करते थे। उसके सबसे बड़े राजकुमार भोजराज सिंह थे, उनसे छोटे विक्रमाजीत सिंह और सबसे छोटे उदयसिंह थे, राणा उदयसिंह ने ही सुप्रसिद्ध नगर उदयपुर को बसाया और इनके ही संसार प्रसिद्ध महाराणा प्रताप पुत्र हुए, जो मरते दम तक राजपूती आन पर डटे रहे। पहिले सभी चित्तौड़ के नरेश "राणा" कहलाते थे। प्रताप ने ही अपने को "महाराणा" घोषित किया। तभी से अब तक उदयपुर के नरेश महाराणा कहलाते हैं।

राणा साँगा के पुत्र कुँवर भोजराज सुन्दर थे, सुशील थे, सदाचारी और मितभाषी थे। सबसे बड़े पुत्र होने के कारण चित्तौड़ के राज्यसिहान के वे ही अधिकारी थे। श्री रतनसिंह

जी की एकमात्र यही हार्दिक अभिलाषा थी कि मेरी प्राण प्यारी पुत्री राजरानी बने। वह भी अन्य वंशों की नहीं, राजपूतों में परम आदरणीय सिसोदिया वंश में ही उसका सम्बन्ध हो।

मेड़ताजी ने अपनी आन्तरिक अभिलाषा राणा साँगा से जाकर निवेदन की। उस समय मीरा की अवस्था १५-१६ वर्ष की थी। वह कुलीन वंश की थी, दूदाजी की पोती थी और उसके रूप, गुण, सौन्दर्य और सुशीलता की सभी पुरुष सराहना करते थे। राणाजी को ऐसे सुन्दर सबम्न्ध में आपत्ति ही क्या होनी थी। उन्होंने उस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया। श्री रतनसिंह जी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उनकी चिरकाल की मनोकामना पूर्ण हुई। यह शुभ समाचार उन्होंने आकर अपनी धर्मपत्नी को सुनाया। माता-पिता अभी से पुत्री के सुखों का स्वप्न देखने लगे। वे सोचते थे—महाराज साँगा के बाद कुँवर भोजराज चित्तौड़ के अधीश्वर होंगे। तब हमारी पुत्री राजरानी होगी, उसके पुत्र होंगे वे भी राजा होंगे और चित्तौड़ की गद्दी पर हमारी पुत्री के वंश का अधिकार होता जायगा। इधर माता-पिता तो इस तरह अपने मनसूबे बाँध रहे थे, उधर मीरा एकान्त विह्वल होकर अपने गिरिधर लाल के सामने गा रही थी—

म्हाँरी सुध ज्यूँ जानो ज्यूँ लीजो जी।
पल पल भीतर पन्थ निहरूँ, दरसन म्हाँने दीजो जी ॥१॥
मैं तो हूँ बहु औगण हारी, औगण चित मत दीजो जी ॥२॥
मैं तो दासी थाँरे चरण जनाँ की, मिलि बिछुरन मत कीजोजी॥३॥
मीरा तो सतगुर जी सरणे, चरणाँ महँ चित दीजो जी ॥४॥

विवाह

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्यात् जननी न स स्यात् ।
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेत मृत्युम् ॥*

सम्बन्ध हमें इतने प्रिय क्यों हैं ? इसलिये कि वे श्याम-सुन्दर के मिलने में ही हमें सहायता देते हैं। माता-पिता हमारे हृदय में भक्ति का अंकुर पैदा कराते हैं, गुरु ज्ञानोपदेश करते हैं, इसके विपरीत जो हमें परमार्थ पथ से भ्रष्ट करने वाले हों, प्रभु के पादपद्मों में पहुँचाने में बाधक हों, वे चाहें फिर कितने भी समीपी सगे सम्बन्धी हों, वे अपने से दूर ही हैं। इसीलिये तुलसीदासजी कहते हैं, 'मानिय सबहिं राम के नाते।' जो श्यामसुन्दर के स्नेही हैं वे ही अपने नातेदार हैं। संसारी बन्धु तो बन्धन के हेतु हैं, वे तो संसार में और अधिक जकड़कर कस देते हैं। इसलिये परमार्थी उनसे सदा सचेष्ट रहता है।

कुमारी मीरा अपने मनमोहन की उपासना में मस्त थीं। उन्हें कुछ भी पता नहीं था कि माता-पिता क्या कर रहे हैं ? जब विवाह की बात पक्की हो गयी, तब माता ने बड़े ही स्नेह से

---

* वह गुरु, गुरु नहीं, वह स्वजन, स्वजन नहीं, वह पिता, पिता नहीं, वह जननी, जननी नहीं, वह दैव, दैव नहीं, वह पति, पति नहीं, जो आई हुई मृत्भु को मिटाने में सहायक न हो।

बड़ी ही प्रसन्नता से यह समाचार अपनी पुत्री को सुनाया। "बेटी! तेरे सौभाग्य की कहाँ तक बड़ाई की जाय। चित्तौड़ाधिपति वीर शिरोमणि महाराज संग्राम सिंह ने तुझे पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है। युवराज कुमार भोजराज उनके सबसे बड़े पुत्र हैं, जल्दी ही तू राणा साँगा की पुत्रवधू बन जायगी।" इस समाचार को सुनकर मीरा को कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। उसने माता के सामने गाया—

गोविन्द लीन्यो मोल, माई मैं गोविन्द लीन्यो मोल।
कोई कहै सस्तो कोई कहै मँहगो, लीयौ तराजू तोल॥
कोई कहै घर में कोई कहै वन में, राधा के सँग किलोल।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आवत प्रेम के मोल॥

मीरा ने विवाह से अनिच्छा प्रकट की, किन्तु विवाह को ही जीवन का सर्व सुख और मुख्य उद्देश्य मानने वाले इस बात को कैसे समझते? मीरा विवाह की भूखी न हो सो बात नहीं। वह विवाह चाहती थी, किन्तु उसका तो सम्बन्ध एक दूसरे वर के साथ पक्का हो चुका था। जिसके साथ एक बार सम्बन्ध पक्का हो गया और वर-वधू दोनों ने एक दूसरे को स्वीकार कर लिया तो वही सच्चा पति हो चुका। उसे छोड़कर फिर दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करना यह तो आर्य ललनाओं के सिद्धान्त के विरुद्ध है। पातिव्रत धर्म के 'तो यह एकदम प्रतिकूल है। इसीलिये जब माता मीरा से बार-बार सगाई की चर्चा करने लगी कि कुँवर भोजराज के साथ तेरी सगाई हो चुकी है, तब उसने जो सच्ची बात थी, अपनी माता से निवेदन कर दी—

माई म्हाँने सुपने में वरी गोपाल।
राती पीली चुनरी ओढ़ी मेहँदी हाथ रसाल॥

काँई और को वरूँ भाँवरी म्हाँने जग जंजाल।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, करो सगाई हाल ॥

यदि सगाई करनी ही है तो गिरधर लालजी के साथ मेरी सगाई करो, उन्हीं के साथ भाँवर फिराओ, उन्हीं की बरात बुलाओ, किन्तु माता ने इसे हँसी की बात समझी। वह सोचती थी—सभी युवक और युवती पहिले पहिल विवाह की बात-चीत चलने पर इसी प्रकार अनिच्छा प्रकट करते हैं, यह स्वाभाविक बात है। पीछे सभी उसी में तल्लीन हो जाते हैं। शायद ही कोई निर्लज्ज युवक युवती अपने मुँह से कहते हों, नहीं माता-पिता के सामने तो सभी शर्म से सिर नीचा करके अपनी अनिच्छा-सी ही पहिले पहिल प्रकट करते हैं। मीरा के माता-पिता ने भी यही समझा कि अभी बच्ची है, ऐसी ही कहती रहती है। जब घरबार का बोझ सिर पर पड़ेगा तो अपने आप समझ जायगी। इसीलिये माता-पिता ने मीरा की सम्मति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यदि कोई उस प्रेम दिवानी की पीड़ा के पारखी माता-पिता होते तो विवाह आदि की कभी नोबत ही न आती। भला जिन आँखों में दिन रात्रि श्यामसुन्दर की साँवरी सलौनी मूरति नाचती रहती है, वहाँ विवाह का क्या काम ? वहाँ तो नित्य तृप्ति है। "जिन आँखन में यह रूप बस्यो उन आँखनि से फिर देखिये का।" किन्तु मीरा के माता-पिता इस मर्म को कैसे समझते। उन्होंने अपने प्रधान कर्त्तव्य का पालन किया। इससे मीरा की कोई क्षति नहीं हुई। उसकी रुचि में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई। कुँवर भोज-राज के साथ सांसारिक दृष्टि से सम्बन्ध होने पर भी कोई शक्ति उसका श्यामसुन्दर से सम्बन्ध विच्छेद न कर सकी। यही

नहीं, प्रत्युत इन पारिवारिक सम्बन्धों से उसे और भी अधिक उत्तेजना मिली।

राठौर रतनसिंह के घर पर बड़ी धूमधाम थी। यह सम्वत् १५७३ विक्रमी के आस पास की बात है। वह छोटा-सा सम्पूर्ण गाँव चित्तौड़ की विशाल सेना से घिर गया। स्थान-स्थान पर वीर राजपूतों के पड़ाव पड़े थे। मेड़ता रतनसिंह के कोई दूसरी सन्तान पुत्र अथवा पुत्री तो थी ही नहीं, इसलिये उन्होंने अपने मन के सभी हौसले अपनी एकमात्र पुत्री के विवाह में ही पूरे किये। महाराणा साँगा के सभी साथियों की उन्होंने सब प्रकार से खूब तत्परता के साथ सेवा की।

इधर मीरा समझ रही थी कि मेरी शादी आज श्यामसुन्दर के साथ होने वाली है। वे ही खिलाड़ी इतनी भारी बरात लेकर मुझे ग्रहण करने आये हैं। उसे तो उत्साह था, किन्तु वह उत्साह इस सांसारिक विवाह का नहीं था, उसे तो अपने पारमार्थिक प्रभु से मिलने का उछाह था।

शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त में पण्डितों ने कुँवर भोजराज के साथ मीरा का विवाह संस्कार किया। मीरा अपने हृदय में अपने सच्चे स्वामी गिरधरलाल को छिपाये रही। यहाँ तक कि भाँवर पड़ते समय भी उसने उन्हें अपने साथ-साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए देखा और माना। वह समझ रही थी कि श्यामसुन्दर मुझे ग्रहण कर रहे हैं और आज से मैं उनकी सच्ची दासी बन गई, झूठे धन्धों से अब मेरा फन्द छूट गया।

इस प्रकार बड़ी धूमधाम से विवाह का कार्य सम्पन्न हुआ। कई दिन तक बरात मीरा के घर ठहरी रही। अन्त में वह दिन आया, जब माता-पिता ने अपनी आँखों की पुतली को, प्राण-

प्यारी पुत्री को आँसू बहाते हुए छाती से चिपटाकर विदा किया। मेड़ता रतनसिंह जी ने दहेज में बहुत-सा धन, हाथी, घोड़े आदि दिये। चलते समय मीरा फूट-फूटकर रोने लगी। जिन माता-पिता के साथ १५-१६ वर्ष निरन्तर बिताये। उनसे विलग होते समय मीरा का हृदय भर आया। स्वजनों का मोह बड़े-बड़े योगियों तक को मोहित कर लेता है। मीरा के लिये और बड़े संकोच की बात थी, उसके साथ ससुराल में जाने वाला सामान माता की आज्ञा से दासियों ने बाँधा था। बहुत से भाँति-भाँति के बहुमूल्य वस्त्र थे। मोतियों की मालायें थीं सोने चाँदी के बहुत से आभूषण थे। सभी चीजें अलग-अलग बाँधी गयीं, किन्तु मीरा के जो श्री गिरिधर लालजी उसके निजी मन्दिर में पधारे हुए थे, उनका किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। माता ने सोचा होगा—"भगवान् की मूर्ति को क्या भेजना, उनकी यहीं पूजा होगी। मीरा के लिये यह असह्य दुःख था, स्वयं सङ्कोच वश ले नहीं सकती थी। चलते समय माता ने बड़े ही स्नेह के साथ अपनी पुत्री को हृदय से लगाकर पूछा— "बेटी! तू अपने मन की और भी जो चीज चाहे माँग ले।" मीरा ने अत्यन्त संकोच के साथ लजाते हुए कहा—"माँ! मैं अपने गिरिधर गुपालजी को भी साथ ले जाना चाहती हूँ।" माता ने पुत्री की इच्छा पूर्ति की। उसने गिरिधरलालजी को साथ ले जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। उसी बात को लक्ष्य करके मीरा ने गाया था—

दे री माई, म्हाँ को गिरिधर लाल !
प्यारे चरण की आन करत हौं और न दे मणि लाल ॥
नातो सगो परिवारो सारो, मन लागे मानो काल ॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, छवि लखि भई निहाल ॥

ससुराल में मीरा

परिवदतु जनो यथा तथाहं ननु मुखरो न ततः विचारयामि।
हरि रस मदिरा मदेन मत्तः भुवि विलुठामनिर्विशामः ॥*

भगवान् ने सभी के स्वभाव भिन्न-भिन्न बनाये हैं और सभी अपने स्वाभावानुसार वर्ताव करने के लिये मजबूर हैं। चोर चोरी करने के लिये मजबूर है तो न्यायधीश उसे कठिन दण्ड देने को मजबूर है। यदि हम दूसरों के स्वभाव और विवशता को समझ सकें तो संसार में इतनी कलह, इतनी लड़ाइयाँ मान-अपमान के झगड़े और दुःख तथा अशांति के कार्य न हों, किन्तु अपने स्वभाव से स्वयं मजबूर होते हुए सभी लोग दूसरों के स्वभाव की, कार्य की विवश होकर निन्दा करते रहते हैं। एक दूसरे की नीयत को बुरा बताते हैं और उसे अपना-सा बनाने की चेष्टा करते हैं।

सभी लोग अपने सम्बन्धी को अपना ही अनुयायी बनाना चाहते हैं। उपदेश देते समय वे इस बात को भूल जाते हैं कि जैसे हम अपने स्वाभाविक कर्म करने को विवश हैं, उसी तरह दूसरा भी अपने स्वभाव से विवश होगा। इस अज्ञान का फल यह होता है कि जिन पर अपना अधिकार होता है, उन्हें हठ

---

* लोग वाचलता वश जैसा तैसा कहें, मैं इसका विचार नहीं करती। श्री भगवदनुराग की मदिरा की मद से मत्त होकर मैं तो भूमि में लोटती हूँ।

पूर्वक भी हम अपना अनुयायी बनाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु प्रतिफल उल्टा ही होता है, उनके जोर देने पर वे अपने सिद्धान्त पर अड़ जाते हैं और यदि वह सत्य सिद्धान्त हुआ तो अन्त में सभी को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है, क्योंकि विजय सत्य की ही होती है, झूठ की नहीं,'सत्यमेव जयते नानृतम् ।'

जिस प्रकार हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को, भगवद्भक्ति छोड़ने के लिये भाँति-भाँति के कष्ट दिये, उसी प्रकार मीरा को भी अपने परिवार वालों की बहुत-सी दुख भरी बातें सहनी पड़ी। किन्तु वह वीर बाला अपने पथ से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुई। उनके कंचन रूपी शरीर को भाँति-भाँति के कष्ट रूपी अग्नि से जितना ही अधिक तपाया गया, उसका वर्ण उतना ही अधिक चमकीला और खरा निकलने लगा। उस ताप से वह संसार के सामने बिलकुल निर्मल साबित हुई।

विवाह होकर मीरा अपनी ससुराल में आई। राजमहल में नव-वधू का खूब स्वागत सत्कार हुआ। अपने प्यारे पुत्र के साथ एक सुघड़ दुलहिन को देखकर कुँवर भोजराज की माता फूली नहीं समाई। बहू सुन्दर थी, सुशीला थी और सर्वगुण सम्पन्न थी। सास ने उसे अपने कुल परम्परा की सभी बातें बताई। अपने वंश की जितनी पुरानी रीति रिवाज थी उन्हें करने के लिये उपदेश दिया। मीरा ने नम्रता से उत्तर दिया— "मुझे तुम्हारे रीति रिवाजों से क्या लेना है ? मैं तो सिवाय अपने गिरिधारी लाल जी के और किसी को कुछ जानती ही नहीं।" सास के लिये यह बड़े ही अपमान की बात थी। जब-कि बहू को सदा सास के इशारे पर नाचना चाहिये वह मुँह पर जबाब ही नहीं देती, प्रत्युत उसकी आज्ञाओं का भी उल्लङ्घन

करती है। सास को यह बात बहुत बुरी लगी और यहीं से कहा-सुनी का सूत्र-पात हो गया। नव-दुर्गाओं में सभी सौभाग्यवती स्त्रियाँ तथा कुमारी कन्यायें गनगौरि का पूजन करती हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ तो अपने अचल सुहाग और पति की मङ्गल कामना के निमित्त और कुमारी कन्यायें रूप-गुण-सम्पन्न पति प्राप्ति की कामना से करती हैं। मीराबाई से भी गौरी पूजन करने के लिये कहा गया, किन्तु मीरा ने स्पष्ट कह दिया—"मेरा सौभाग्य तो अचल है। मेरा सुहाग छिनने का भय ही नहीं पूजा तो मैं उन्हीं अपने एक गिरिधर लाल की करती हूँ और करूँगी।" एक नव वधू की ऐसी बातें सौभाग्यवती स्त्रियों को बहुत ही बुरी लगीं। सास ने भी भाँति-भाँति के प्रश्न पूछे, जली कटी और उल्टी-सीधी बातें सुनाईं। मीरा ने सबकी बातें सुनीं, उनका उत्तर भी दिया और अपनी पैज पर अड़ी रही। उसे कोई भी उसके सिद्धान्त से नहीं डिगा सका। इन सब बातों का मीरा ने अपने पदों में चित्र खींचा है। प्रश्नोत्तर के रूप में उसने गाया है। मीरा कहती है, मुझे अपने गुरु गोविन्द की आन है, गनगौरि की पूजा न करूँगी।

म्हाना गुरु गोविन्द री आण, गौरल न पूजाँ।

सास ने कहा—

ओरज पूजे गोरज्याजी, थे क्यूँ पूजो न गोर।
मन वाँछित फल पाव स्योंजी, थे क्यूँ पूजो ओर॥

सास ने कहा—"बहू! सभी स्त्रियाँ गौरि पूजन करती है, तू क्यों नहीं गौरि पूजा करती, इस पूजन से तू मनोवाँछित फल पावेगी, दूसरे की पूजा क्यों करती है? मीरा ने कहा—

नहिँ हम पूजा गोरज्याजी, नहिँ पूजा अनदेव।
परम सनेही गोविन्दो, थे काँई जानो म्हारो भेव॥

"सासूजी ! मैं गौरी पूजा नहीं करती न और ही किसी दूसरे देव को पूजती हूँ। मैं तो परम सनेही गोविन्द की ही एक मात्र पूजा करती हूँ। आप हमारे इस भेद को क्या जानती हो (अर्थात् वे ही हमारे एकमात्र पतिदेव हैं, पतिव्रता एक का ही पूजन करती है)।"

सास ने कहा—

वाल सनेही गोविन्दो साधु सन्ता को काम।
थे बेटी राठौर की, याँ ने राज दियो भगवान्॥

"बहू ! गोविन्द भगवान् से स्नेह करना यह तो विरक्त साधु सन्तों का काम है तेरा प्रतिष्ठित राजवंश में जन्म हुआ है। राठौर की बेटी है, भगवत् कृपा से राजरानी बनी है। तू इस हठ को छोड़ दे।"

इस पर मीरा बोली—

"राज करै ज्यानाँ करणे दीज्यो, मैं भगताँरी दास।
सेवा साधू जननकी म्हारे राम मिलन की आस॥"

"सासूजी ! राज्य जिसे करना हो करे। मैं तो भगवत् भक्तों के चरणों की सेविका हूँ। मेरे तो बस दो ही काम हैं—साधु महात्माओं की सेवा करना और उन गिरिधर गोपाल की अह-र्निश अनुकम्पा की प्रतीक्षा करते रहना। मुझे इन कामों से ही फुरसत नहीं।"

सास ने कहा—

लाजे पीहर सासरो, माइतणो भोसाल।
सबही लाजें मेड़तियाजी थाँसू बुरा कहे संसार॥

"बहू ! तू यह कैसी बातें बक रही है। तेरे इस काम से तेरे कुल को, तेरे वंश को, ससुराल को, मायके तथा ननसाल सभी को

शरम से सिर नीचा करना पड़े। तेरे कारण सभी परिवार वालों की निन्दा होगी और सभी तुझे धिक्कार देंगे।"

मीरा ने कहा—

"चोरी करौं न मारगी, नहिँ पिया मैं करूँ अकाज।
पुन्नके मारग चालताँ, झक मारो संसार॥
नहिँ मैं पीहर सासरे, नहीं पिता जी री साथ।
मीरा ने गोविन्द मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास॥

सासू जी भला इसमें सिर नीचा होने की कौन-सी बात है? बदनामी तब होती जब मैं कोई चोरी बदमाशी करती। मैं तो पुण्य के मार्ग पर चल रही हूँ। इतने पर भी कोई बदनामी करना चाहे करता रहे, किसी का मुँह थोड़े ही पकड़ा जाता है। फिर मुझे शरम किस बात की है? न तो मुझे मायके की परवाह, न ससुराल की, मुझे तुम्हारे कुँवर जी से कुछ लेना नहीं है। मुझे तो गोविन्द भगवान् मिल गये हैं और रैदास जैसे सन्त महात्मा गुरु के रूप में मिल गये हैं।

ये पद मीरा की मनोव्यथा और निर्भीकता को प्रकट कर रहे हैं। इनकी रचना इस झगड़े के बहुत पीछे मीरा द्वारा हुई होगी। किन्तु यह है 'आपबीती' यह कोरी कल्पना मात्र नहीं है।

इस प्रकार के ये झगड़े सास बहू में प्रायः रोज ही होते। कुँवर भोजराज भी संसारी ही पुरुष थे। वे राजकुमार थे, युवक थे। मीरा शास्त्रानुसार उनकी धर्मपत्नी थी। उनके द्वारा सांसारिक सुख और सन्तति की इच्छा भी कुँवर भोजराज को हुई ही होगी, किन्तु मीरा ने उनसे भी कह दिया—आपका मैं हृदय से आदर करती हूँ, आपके लिये मेरे मन में उच्च भाव

है। किन्तु मेरा पति रूप से सम्बन्ध तो गिरिधर गोपाल जी से हो चुका है। मैं उन्हीं की चेरी बन चुकी हूँ आप मुझसे किसी प्रकार की सांसारिक आशा न रखें।"

युवराज बुद्धिमान थे, गुणग्राही थे, फिर परम भक्त-सती सध्वी मीरा का आत्मबल प्रभुप्रेम और उसकी सच्ची लगन भी तो उसके चेहरे से फूट-फूटकर निकलती रहती थी। कुँवर भोज-राज जी ने मीरा से सांसारिक सुख की आशा एक दम छोड़ दी। यही नही, हृदय से मीरा के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने लगे। उन्होंने अपना परम सौभाग्य समझा कि ऐसी परमभक्त प्रभु परायण नारी से मेरा सम्बन्ध हुआ। मीरा के लिये उन्होंने महल में ही एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया और मीरा की आज्ञा लेकर उन्होंने दूसरा विवाह भी कर लिया।"

अब तो मीरा एकान्त में निरन्तर प्रभु प्रेम में ही मस्त रहने लगी। वह पैरों में घुँघरू बाँधकर हाथ में करताल लेकर अपने प्राणेश्वर देवता के सामने विरह वेदना के स्वरचित पद गाती हुई नाचने लगी। उसका भाव विचित्र था। वह कभी जोरों से रोती, कभी हँसती कभी अपने रूठे हुए स्वामी को मनाती। कभी स्वयं भी मान का अभिनय दिखाती। वह दिन रात अपने आराध्यदेव, हृदयरमण, प्राणेश्वर श्री गिरिधरलाल की ही स्मृति में पगली बनी बैठी रहती थी। उसके सभी काम उन ब्रजराजकुमार को रिझाने के ही लिये होते थे। २०-२२ वर्ष की वह अनिन्द्य भोली-भाली बालिका अपने अलौकिक स्वामी के ही आगमन के सपने देखती रहती। वे भक्तवत्सल प्रभु तो सबकी भावनानुसार इच्छा पूर्ति करते हैं। अपनी प्राण प्यारी सुकुमारी मीरा को विरह विकल देखकर वे उसके पास स्वप्न में आते भी थे। आँख खुलते ही मीरा जब उन्हें अपने पास न पाती

तो रोते-रोते विकलता के साथ अपनी सखियों को सुनाती और जागने के कारण पछताती हुई कहती—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक पल में पिउ आये ॥१॥
मैं जु उठी प्रभु आदर देनकूँ, जाग परी पिव ढूँढ न पाये ॥२॥
और सखी पिव सूत गमाये, मैं जु सखी पिउ जागि गमाये ॥३॥
आजकी बात कहा कहूँ सजनी, सुपना में हरि लेत बुलाये ॥४॥
वस्तु एक जब प्रेम ते पकरी, आज भये सखि मन के भाये ॥५॥
को म्हारो सुने अरु गुनि हैं, बाजे अधिक बजाये ॥६॥
मीरा कहे सत्त कर मानों, भक्ति मुक्ति फल पाये ॥७॥

बाई ! भला इसमें संदेह ही किसे है ?

सम्बधियों से विछोह

नैकत्र प्रिय संवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ।
ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवनां स्रोतसो यथा ।।*

इस असार संसार में कितने प्राणी नित्य प्रति जन्म लेते हैं और मरते हैं। मरना जीना यह तो प्रकृति का स्वभाव है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु ध्रुव है और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है, किन्तु अमर वही है जिसकी कीर्ति स्थिर हो। कुआँ, तालाब, मन्दिर बनवाने से भी थोड़े दिन कीर्ति रहती है किन्तु अस्थिर पदार्थों की कीर्ति अस्थिर और अस्थाई ही होती है। जो समग्र ऐश्वर्य की, समस्त कीर्ति की, समस्त यश की एक मात्र खान है, उन नन्दनन्दन से जिन्होंने सम्बन्ध जोड़ लिया उसी का जन्म यथार्थ है, उसी का सम्बन्ध सच्चा है। बाकी और झूठे हैं बन्धन के हेतु हैं। परिजनों के बिछोह से सर्वस्व के नष्ट हो जाने पर प्रायः सभी को इसी क्षणभंगुर संसार से विराग होता है। किसी का विराग क्षणिक होता है और किसी का स्थाई बन जाता है। मीरा को अपने

---

* भिन्न-भिन्न प्रकार के जीव चित्र विचित्र कर्म करने वाले है। ऐसे प्यारे सगे सम्वधियों का सदा एक साथ बने रहना सर्वथा असम्भव है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बहुत से तृण काष्ठ संयोग से इकट्ठे हो जाते हैं और फिर स्वतः ही अलग भी हो जाते है, उसी प्रकार संसारी सम्बन्धियों का संयोग-वियोग है।

इस छोटे से जीवन में अपने सभी सम्बन्धियों का वियोग सहना पड़ा।

जिस जननी ने इन्हें जन्म दिया था, उसके वात्सल्य-प्रेम को ये अधिक दिन प्राप्त न कर सकीं। माता बाल्यकाल में ही असार संसार से चल बसी। इनके पिता तो एक वीर लड़ाकू क्षत्रिय राजपूत ही थे। उन्हें युद्धों से ही अवकाश नहीं था। अतः इन्होंने पितृ प्रेम को अपने पितामह दूदाजी की गोद में प्राप्त किया। दूदाजी परम वैष्णव थे, उन्हीं की गोद में मीरा का बाल्यकाल बीता और उन्होंने ही उनके कृष्ण-प्रेम को पल्लवित-पुष्पित बनाया। दूदाजी को मीरा से बड़ी-बड़ी आशायें थी, वे अपनी पौत्री को राजरानी देखना चाहते थे, किन्तु कुटिल काल ने उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण किया। मीरा बाल्य-चपलता को छोड़कर धीरे-धीरे किशोरावस्था में पदार्पण कर रही थी कि इसके पालक पितामह भी इस संसार से सदा के लिये चल बसे। इससे मीरा को इस संसार की क्षणभंगुरता का अनुमान होने लगा।

विवाह हुआ, मीरा राजरानी बनकर मेड़ता के महलों को छोड़कर चित्तौड़ आई, वहाँ उसे कोई नहीं मिला जो इसके दर्द को जानता हो। इनके पतिदेव कुँवर भोजराज ने इनकी गहरी कसक का अनुभव किया और वे इनके ऊपर श्रद्धा करने लगे। मीरा का भी उनसे प्रेम था। वे मीरा की सभी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहते थे; किन्तु यह संयोग भी स्थायी न रह सका। जब वह युवावस्था में पदार्पण कर रही थी और उस अवस्था के सुख-स्वप्नों में अपने प्राणाधार गिरिधर लालजी के साथ भाँति-भाँति की प्रेम क्रीड़ाओं का अभिनय करती थी, उसी समय उसके संसारी पति कुँवर भोजराज जी

भी धराधाम को त्याग कर परलोकवासी बन गये। मीरा को एक ठेस लगी, मीठी-सी कसक पैदा हुई; सहसा उसके मुख से ये शब्द स्वतः ही निकल पड़े—

ऐसे वर को के वरूँ जो जन्मे मरि जाय।
वर वरिये गोपाल जी म्हारों चुड़लों अमर हो जाय॥

पति की मृत्यु के बाद मीरा का वैराग्य और भी बढ़ गया। वह सदा अपने गिरिधर नागर के सामने ही नाचती, गाती और रोती रहती थी। अपने प्यारे प्रियतम के प्रेम में कभी हँसती, कभी रोती, कभी मस्त होकर नाचने लगती।

वह समय ही और था, क्षत्रिय अपनी अन्तिम वीरता का आदर्श संसार के सामने उपस्थित करने के लिये तुले हुए थे। आये दिन रोज ही मुसलमान शासक हिन्दू महाराजाओं पर चढ़ाई करते और उन्हें अपने अधीन बनाने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करते। उन दिनों में पूर्व से पश्चिम तक, उत्तर से दक्षिण तक चित्तौड़ की ही वीरता का झंडा फहरा रहा था। मीराबाई के श्वसुर महाराणा संग्रामसिंह या राणा साँगा उस समय के अद्वितीय योद्धाओं में से थे। यवन सम्राटों ने उस पुरुषसिंह को अपने-अपने पिंजड़ों में फँसाने के लिये भाँति-भाँति के प्रयत्न किये, किन्तु वे सभी उसके सामने असफल रहे। इन्होंने १७-१८ बड़े-बड़े युद्ध किये और ये सभी में विजयी हुए। दिल्ली के बादशाह बाबर की छाती में तो ये शूल के समान सदा चुभते रहते थे। कई बार उसने इनसे लड़ाई की और इनकी वीरता के सामने उसे भागना पड़ा।

सं० १५८५ में बाबर ने फिर महाराणा साँगा के ऊपर चढ़ाई की। फतहपुर सीकरी के पास बयाना में बड़ा भारी युद्ध

हुआ। बाबर की सेना में भगदड़ मच गई। शाही सिपाही अपनी-अपनी जान लेकर भागने लगे। बाबर ने महाराणा से सन्धि करने का भी प्रस्ताव किया, किन्तु महाराणा ने उसे अस्वीकार कर दिया। महाराज की ओर से भिलसा, डूँगरपुर चंदेरी, बूँदी, गागरोन, ईडर, जोधपुर, बीकानेर, अम्बेर, देवरिया आदि राज्यों के भी असंख्यों क्षत्रिय वीर थे। मेड़ता के वीरों में मीराबाई के पिता राव रतनसिंह जी भी थे। इस युद्ध में महाराणा की बहुत अधिक क्षति हुई। उनके बहुत से चुने हुए वीर सरदार इसमें काम आये। मीराबाई के पिता राठौर रतनसिंह ने इसी युद्ध में वीर गति पाई। वे सम्मुख युद्ध में लड़ते-लड़ते अपने नश्वर शरीर को त्यागकर सूर्यमण्डल को भेदकर उन लोकों में गये जहाँ योग-युक्त परिव्राजक और युद्ध में प्राण त्यागने वाले वीर जाते हैं।

इसी युद्ध में महाराणा साँगा के मस्तक में भी एक जहरीला बाण लगा और उसके लगने से वे बेहोश हो गये। सरदार उन्हें हाथी से उतार कर पालकी में रखकर सुरक्षित स्थान पर ले आये। महाराणा की जब बेहोशी दूर हुई तब उन्हें सब बात मालूम हुई। उस वीर क्षत्रिय को इस पराजय पर महान क्लेश हुआ। उन्होंने सभी से मिलना-जुलना छोड़ दिया और चुपचाप उदास होकर अन्यमनस्क भाव से रणथम्भोर के किले में रहने लगे। कोई उनसे मिल भी नहीं सकता था। एक चारण की उत्तेजनापूर्ण कविता सुनकर राणा ने फिर एक बार बाबर से लोहा लेने का निश्चय किया, किन्तु उनके मन्त्री इस मत के विरुद्ध थे। महाराणा भला युद्ध से कब हटने वाले थे! कहते हैं, उन दुष्ट नमकहरामों ने षड्यन्त्र रचकर महाराणा के प्राण हर लिए। मीराबाई के श्वसुर संसार के प्रसिद्ध वीर,

क्षत्रियों के मूर्तिमान यश राणा साँगा हँसते-हँसते अपने प्राणों को त्यागकर वीर गति को प्राप्त हुए।

मीराबाई के पति कुँवर भोजराज तो पिता की मृत्यु के पूर्व ही इस संसार से चल बसे थे। महाराणा के दूसरे पुत्र करन-सिंह भी इसी समय संसार से विदा हो गये। इस प्रकार मीरा ने अपनी २० वर्ष की ही अवस्था में माता, पिता, पितामह, पति श्वसुर, देवर आदि सभी को अपने से सदा के लिये अलग होते देखा। इन परिजनों की मृत्यु से उसके भावमय कोमल हृदय में 'संसार अनित्य है' इसका एक जोरदार तूफान उठने लगा। उसकी भाव-भक्ति और भी अधिक बढ़ गई।

महाराणा साँगा के पश्चात् उनके तृतीय पुत्र कुँवर भोज-राज के सगे भाई रतनसिंहजी चित्तौड़ के सिंहासन पर विराज-मान हुए। लगभग ४ वर्ष तक इन्होंने मेवाड़ के सिंहासन को सुशोभित किया। इनके राज्यकाल में मीरा को किसी प्रकार की शिकायत नहीं हुई। मीराबाई के ये छोटे देवर थे, उन्होने सम्भवतया मीराबाई के भजन पूजन में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं डाला।

महाराणा साँगा की एक रानी उनकी मृत्यु के समय गर्भ-वती थी, इससे वे अपने पति के साथ सती न हो सकीं, पीछे उन्हीं के उदर से उदयपुर के संस्थापक राणा उदयसिंह का जन्म हुआ।

राणा रतनसिंह भी अल्प आयु में ही चल बसे। ४-५ वर्ष राज्य करने के अनन्तर ही उनका परलोक वास हो गया। रतन-सिंह के बाद उनके सौतेले भाई विक्रमाजीत चित्तौड़ के महाराणा हुए। इन्होंने ही सती-साध्वी मीराबाई को भाँति-भाँति की यात-नायें दीं, जिन्हें पाठक आगे पढ़ेंगे।

अब मीराबाई का सगा-सम्बन्धी कौन था ! वैसे पहिले भी वह कहती थीं 'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई' किन्तु अब तो यह सत्य एकदम प्रत्यक्ष हो गया, अब सिवाय गिरिधर लाल के उसका कौन था ? इसीलिए उसने बड़े ही करुणा-पूर्ण शब्दों में अपने सच्चे स्वामी के सामने प्रेम विभोर होकर गाया था—

अब तो निभायाँ बनेगा, बाँह गहे की लाज ।
समरथ सरण तुम्हारी साइयाँ सरब सुधारण काज ॥१॥
भव सागर संसार अपर बल, जामें तुम हो जहाज ।
निराधार आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज ॥२॥
जुग जुग भीर हरी भक्तन की, दीन्हीं मोच्छ समाज।
मीरा सरण गही चरणन की, पैज रखो महाराज ॥३॥

राणा का कोप

असाधवोऽपि ते धन्या यतः सदुपकारिणः ।
क्लेशाग्नि तापे सन्ताप्य शोधयन्ति महात्मनः ॥*

संसार में अच्छे-बुरे, निन्दक, प्रशंसक, देवता, असुर सदा से होते आये हैं और सदा रहेंगे। यदि महात्मा के साथ खल पुरुष न हों तो महात्माओं का महत्व प्रकट ही कैसे हो। यदि वीणा में आघात करने वाला न हो तो उसकी सुरीली तान पर श्रोता मुग्ध कैसे हो सकें। बहुत से दुष्ट लोग भी तो साधुओं का वेष बना लेते हैं। यदि खल और निन्दक इन्हें परीक्षा रूपी अग्नि में तपाकर उनकी परीक्षा न किया करें तो पता ही कैसे चले कि यह सच्चा भक्त है और यह बगुला भक्त है। आसुरी प्रकृति के लोग महात्माओं के धैर्य, विश्वास, प्रेम तथा महानता के परीक्षक हैं। निन्दक से बढ़कर उपकारी कौन होगा जो बिना मतलब के अपने सिर पर पाप लेता है, बुरा बनके भी जनता के सम्मुख महत्ता प्रकट करता है। अतः खलों के क्लेश और निन्दकों की निंदा एक प्रकार की प्रज्वलित अग्नि है। बनावटी तो उसके समीप जाते ही जल जाता है, शुद्ध सुवर्ण में भी यदि थोड़ा बहुत मल हो

* वे दुष्ट पुरुष भी धन्य है जो महात्माओं को क्लेश पहुँचाते हैं, क्योंकि वे दुःख रूपी अग्नि में सुवर्ण रूपी महात्माओं को तपाकर उन्हें विशुद्ध और उज्वल बनाते हैं, वे उन महात्माओं के अपकारी न होकर उपकारी ही हैं।

तो उसे असन्तों की निन्दा रूपी अग्नि जलाकर विशुद्ध बना देती है। अतः साधुओं की तरह असाधु भी बन्दनीय हैं। महापुरुषों के साथ वे भी अमर हो जाते हैं, जैसे प्रह्लाद के साथ हिरण्यकशिपु, श्रीराम जी के साथ रावण, श्रीकृष्ण के साथ कंस, युधिष्ठिर के साथ दुर्योधन अमर है, उसी प्रकार बाई मीरा के साथ राणा विक्रमाजीत सिंह भी अमर हैं। जैसे कबीर साहब की टेक है, 'कहत कबीर सुनों भाई साधो।' इसी तरह मीरा के बहुत से पदों में राणा को सम्बोधन है। मीरा के गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी और हिन्दी पदों के साथ राणाजी का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उनकी प्रतारणाओं और यातनाओं ने ही मीरा को इतना ऊँचा उठा दिया। इन्हीं सबसे ऊबकर एकमात्र अपने प्राणपति गिरिधर लाल को ही सब कुछ समझने लगीं।

राणा विक्रमाजीत की खलता इतिहास प्रसिद्ध है। इसके आचरणों से न तो प्रजा ही प्रसन्न थी और न सरदार तथा मन्त्री ही सन्तुष्ट थे, इसने अपनी करनी का उचित फल पाया और बनवीर के हाथों बुरी तरह मारा गया। उसकी दुष्टता के ही कारण किसी ने उसकी मृत्यु का विरोध नहीं किया। वह जब तक जीता रहा दुष्टता ही करता रहा।

दुष्ट पुरुषों की प्रकृति होती है कि जिसे वे अपने लिये ठीक समझ लेते हैं, उन्हें पूरा करने के लिये सभी प्रकार के उपायों को काम में लाते हैं, फिर उनके सामने उचित-अनुचित का प्रश्न ही नहीं रहता। बस, इन्हें यही एक धुन सवार रहती है कि हमारा मनचीता काम होना चाहिये। वे अधर्म को ही अपना धर्म मानकर वर्ताव करते हैं, 'अधर्म-धर्ममितिवा मन्यते तमसावृता।'

सभी सगे सम्बन्धियों के मरने से मीरा की भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वह पहिले तो घर में ही अपने मन्दिर में पूजा-पाठ करती थीं, ज्यों-ज्यों उनके भक्ति-भाव की चर्चा चारों ओर फैलने लगी त्यों-त्यों भावुक नर-नारी उनके दर्शनों के लिये आने लगे। साधु-सन्त तो प्रेम-भाव के भूखे होते हैं, यदि उन्हें किसी प्रेमी का पता चल जाय तो जैसे मधुर मधु के लिये देश-विदेश से बहुत से मधुप आ-आकर इकट्ठे हो जाते हैं, उसी प्रकार साधु-सन्त भी प्रेम के पागल के पास टूट पड़ते हैं। मीरा के मन्दिर में साधुओं की मण्डलियाँ आने लगीं। बहुत से तो उस प्रेमोन्मादिनी की मस्ती को देखने आते, बहुत से उसके अद्वितीय पदों के ही प्रलोभन से आते, बहुत से उसके अलौकिक गायन तथा नृत्य से ही मन्त्र-मुग्ध बन जाते और बहुत से इसी आशा से चले आते कि वहाँ चलने पर बढ़िया-बढ़िया माल खाने को मिलेंगे। मीरा बाई की ओर से सभी का यथोचित सत्कार भी होता और वे साधु-मण्डली को देखकर अपने को कृत-कृत्य मानतीं, आनन्द में विभोर होकर उनकी पदधूलि माथे पर चढ़ातीं।

विक्रमाजीत को यह बात बुरी लगी। उन दिनों साधु-सन्त आज की तरह ठुकराये नहीं जाते थे, जनता पर उनका प्रभाव भी था, आतङ्क भी था। साधुओं की मण्डलियाँ जहाँ पहुँच गयीं, सरकारी अधिकारियों से अधिक नगर निवासियों को उनकी चिन्ता हो जाती। राजा हो चाहे महाराजा, जिसने साधुओं से विरोध किया वह जनता की दृष्टि से गिर जाता था। इससे विक्रमाजीत साधुओं को राज्य में न आने देने को आज्ञा तो न दे सके, किन्तु उन्हें यह बात बहुत ही बुरी लगती। अपनी महल की रानी को इस तरह बेपर्दा होकर खुल्लम-खुल्ला सभी

से मिलना उन्हें बहुत ही बुरा लगा। उन्होंने इसे अपने कुल के लिये कलंक समझा। सभी उपायों से मीरा को सुधारने की, उसे सत् पथ पर लाने की चेष्टा की गई। राणा ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु वह कच्चा रङ्ग तो था ही नहीं जो पत्थर पर पछाड़ने से या अग्नि की भट्टी पर चढ़ाने से छूट जाय। वह तो सूरदास की काली कमली थी, उस पर दूसरा रङ्ग चढ़ ही कैसे सकता है।

"सूरदास की काली कमलिया, चढ़ै न दूजो रङ्ग।"

राणा ने मीरा के सुधार के लिये साम, दाम, दण्ड, भेद आदि सभी उपाय किये। पहिले तो उसने दो विश्वसनीय सखियों को मीरा के पास रख दिया जो उसे हर समय समझाती रहें कि एक राजवंश की सम्भ्रान्त रानी को ऐसे आचरण करने ठीक नहीं है, किन्तु वे असमर्थ रहीं, असफल हुईं। यही नहीं वे भी मीरा के रङ्ग-में-रङ्ग गयीं। तब राणा ने अपनी ऊदाबाई नामक किसी बहिन को भेजा। उसने भाँति-भाँति से मीरा को ऊँच-नीच समझाया, भय दिखया, महाराणा का प्रभाव बताया किन्तु 'राम नाम जपतां कुतोभयम्" भगवान् का भजन करने वाले को भय कहाँ? मीरा नहीं मानी, मीरा स्वयं कहती हैं—

मीरा सूँ राणा ने कही रे सुण मीरा म्हारी बात।
साधों की संगति छोड़ दे रे, सखियाँ सब सकुचात॥
मीरा ने सुन यों कही रे, सुन राणा जी बात।
साधू तौ माई बाप हमारे, सखियाँ क्यूँ घबरात॥

इसी तरह ऊदाबाई ने भी अपनी तरफ से तथा राणा की

तरफ से बातें कहीं। जब बहुत समझाने पर भी मीरा नहीं मानी तो ऊदाबाई ने कहा—

थाँ ने बरज बरज मैं हारी, भाभी मानो बात हमारी ॥
राणे रोष कियों थाँ ऊपर, साधों में मत जारी।
कुल को दाग लगे छै भाभी, निन्दा हो रही भारी ॥१॥
साधो रे सँग बन वन भटको, लाज गुमाई सारी।
बड़ा घरा थैं जनम लिवों छै, नाचों दै दै तारी ॥२॥
बर पाया हिंद वाणे-सूरज, थे कोई मन धारी।
मीरा गिरिधर साध संग तज, चलो हमारी लारी ॥३॥

मीराबाई रनिवास में जहाँ बहुत-सी रानियाँ रहती थीं, उस जगह न रहकर सबसे एकान्त में अपने गिरिधर लाल जी के मन्दिर में ही रहा करती थीं। सम्भवतया वे महलों में सबके साथ जाकर रानियों से मिलती भी न थीं। यदि कहीं राजधानी के आस-पास साधु सन्तों का आगमन सुनती हों तो सम्भवतया दर्शनों के लिये चली भी जाती रही होंगी। इन्हीं सब बातों को ऊदाबाई ने बहुत बुरा बताया है। इस पर मीरा ने कहा—

मीरा बात नहीं जग छानी, ऊदाबाई समझो सुघर सयानी।
साधु मातु पिता कुल मेरे सजन सनेही ज्ञानी।
सन्त चरन की सरन रैन दिन, सत्त कहत हूँ बानी ॥
राणा ने समझावो जावो, मैं तो बात न मानी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, सन्तों हाथ बिकानी ॥

मीरा ने कहा—यदि मैं छिपकर डरते-डरते ऐसा आचरण करती तो भय की बात थी। यह तो जग में जाहिर है कि मैं जो भी करती हूँ सबके सामने करती हूँ, खुलकर खेलती हूँ इसलिये

तुम राणा से कह दो, साधु तो मेरे प्राण हैं उनके बिना मैं कैसे जी सकती हूँ। इस पर ऊदाबाई ने फिर कहा—

भाभी बोलो बचन बिचारी।
साधो की सङ्गत दुख भारी, मानों बात हमारी।
छापा तिलक गलहार उतारो, पहिरो हार हजारी॥
रतन जड़ित पहिरो आभूषण, भोगो भोग अपारी।
मीराजी थें चलो महल में, थॉं ने सोगन म्हारी॥

ऊदाबाई ने अपमान दिखाया, प्रेम प्रदर्शित किया। विषय सुख और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों का भी लोभ दिया। मतलब यह कि एक नारी जिन प्रलोभनों में फँसकर संसारी बन सकती है वे सभी उपाय किये, किन्तु मीरा ने साफ कह दिया—

भाव भगत भूषण सजे, सील सन्तोष सिंगार।
ओढ़ी चूनर प्रेम की, गिरिधर जी भरतार॥
उदाबाई मन समझ, जाओ अपने धाम।
राज पाट भोगो तुम्हीं, हमें न थासूँ काम॥

इन उत्तरों में कितनी निर्भयता है, कितनी एक निष्ठता है, भय का तो नाम नहीं। मीरा के महान और महानतम पावन हृदय के ये भाव हैं। इन पदों की रचना पीछे से सम्भव है मीरावाई ने की हो या किसी दूसरे ने ही की हो। इन शब्दों में पद रचनाओं में शङ्का हो सकती है, किन्तु इस बात में तो अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि ये भाव बाई मीरा के अन्तस्थल के हैं। इनमें उसका हृदय है, उसके कलेजे की कसक है और उसका अदम्य साहस है। एक ओर तो मेवाड़ का राजा जो बात-की-बात में सभी प्रकार के अनर्थ कर सकता है और दूसरी ओर मातृ-पितृ विहीन एक विधवा युवती। वह भी राणा

के ही अधीन रहने वाली, किन्तु उसे तो दृढ़ नहीं दृढ़तम विश्वास था कि 'म्हाँरे सिर पर सालिगराम, राणा म्हाँरे काईं करसी।' सचमुच जिसके सिर पर सालिगराम हैं उसके सामने सारा संसार भी कुछ नहीं कर सकता। 'जाको राखे साइयाँ, मारि न सकिहैं कोय।' सो मीरा को तो एक मात्र उसी का भरोसा था जो सभी बलों का बल है, जिसके पीछे प्रह्लाद अग्नि में भी न जल सका।

राणा ने बहुत-सी चेष्टायें कीं, स्वयं सब प्रकार से समझाया किन्तु मीरा की समझ तो उल्टी हो गयी थी उसे तो ये बातें बिपरीत दिखाई देती थीं। जब राणा सीधी तरह से समझाने से नहीं माना बार-बार वह हठ ही करने लगा तब मीरा ने निर्भर होकर कह दिया—

अब नहिँ मानूँ राणाँ थारी, मैं वर पायो गिरधारी।
मनि कपूर की एक गति है, कोऊ कहो हजारी।
कङ्कर कंचन एक गति है, गुँज मिरच एक सारी॥
अनड़ धणी को सरणो लीनो हाथ सुमिरनी धारी।
जोग लियो तब क्याँ दिलगीरी, गुरु पाया निजभारी॥
साधू सङ्गत यह दिल राजी, भई कुटुम्ब सूँ न्यारी।
क्रोड़वार समझावो मोकूँ, चलूँगी, बुद्ध हमारी॥
रतन जड़ित को टोपा सिर पै, हार कंठ को भारी।
चरण घूँघरू घमस पड़त है, म्हें कराँ श्यामसूँ यारी॥
लाज सरम सबही मैं डारी, यों तन चरण अधारी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, झख मारो संसारी॥

विष अमृत बन गया

श्रीरामनामामृत बीजरूपा
सञ्जीवनी चेन्मनसिप्रविष्टा ।
हालाहलं वा प्रलयानलं वा
मृत्योर्मुखं वा विषतां कुतोभीः ॥*

जब हम किसी गम्भीर विषय पर बातें करते हैं तो तर्क करते हुए कह देते हैं—"यह सम्भव हो सकता है।" दूसरे विषय पर कहते हैं—"अजी, यह तो एकदम असम्भव है।" सम्भव के माने हैं, यह घटना प्रकृति राज्य में घट सकती है। असम्भव के माने हैं, इस घटना का घटित होना प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है, किन्तु जो प्रकृति से परे पहुँच गये हैं, जो प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण कर गये हैं, उनके लिये 'असम्भव' कुछ भी नहीं।

श्री भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, वे तो कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् समर्थः' कहे जाते हैं, उनके राज्य के कोष में 'असम्भव' शब्द ही नहीं उनके लिये सब सम्भव है। इसके एक नहीं अनेक प्रत्यक्ष

---

* श्री रामनामामृत बीजरूपिणी जो सञ्जीवनी है, यदि वह किसी तरह मन में प्रवेश कर जाय तो फिर हलाहल विष पी जाइये, प्रलय की धधकती हुई अग्नि में घुस जाइये या मृत्यु के मुख में प्रवेश कर जाइये, वहाँ तो डर का कोई काम ही नहीं, भय का वहाँ नाम भी नहीं।

उदाहरण हैं। प्रह्लाद, द्रौपदी की कथायें पुरानी हैं, अभी हाल में ही एक बड़े राज्य के ६०-६५ वर्ष के राजकुमार ने १०० वर्ष के अपने पिता को राज्य के लोभ से भगवान् के प्रसादी दूध में जहर दिला दिया। देते समय पुजारी जब काँपने लगा और महाराज ने डाँटकर पूछा तो उसने सब कुछ सच-सच बता दिया। इतने पर भी भगवान् के प्रसाद का अपमान न हो, जो प्रसाद हो चुका है उसका तिरस्कार न करना चाहिये। यह सोचकर वे उसे पा गये और उनका बाल भी बाँका न हुआ। अंत में पुत्र को राज्य देकर वे भगवत भजन में तल्लीन हो गये। जिसने अपना सर्वस्व उन अन्तर्यामी प्रभु को बना रखा है जिनकी इच्छा भक्त को जीवित रखने की है, उसका साक्षात् यमराज भी कुछ नहीं कर सकते। बाई मीरा के जीवन में भी ऐसी ही अनेक घटनायें घटीं।

राणा के सिर पर तो कुल प्रतिष्ठा का भूत सवार था। वह तो किसी प्रकार भी मीरा को अपनी आज्ञा में चलने के लिये उतावला बना हुआ था। जब उसकी सभी चेष्टायें विफल हुई तो वह चिन्तित हुआ। दुष्टों के सलाहकार भी दुष्ट ही होते हैं। भले मन्त्रियों की वहाँ प्रतिष्ठा ही कहाँ ? जो उनके हाँ-में-हाँ मिलावे वही अच्छा और न्याय का पक्ष लेने वाला हो उसको कान पकड़कर बाहर करो यही पुरस्कार है। जब राणा मीरा के कारण दुखी और चिन्तित रहने लगा तो उसको मन्त्रियों ने सलाह दी—"महाराज ! आप एक स्त्री से इतना क्यों घबड़ाते हैं, भला यह भी कोई बात है। एक तो वह विधवा है, कोई सन्तान भी उसके नहीं। कुल मर्यादा के विरुद्ध आचरण करती है, ऐसी हालत में उसे जहर देकर सब झगड़ा ही क्यों नहीं मिटा देते। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी; हर्रा लगे न फिट-

किरी रँग चोखा ही आवे। चरणामृत के नाम से जहर भेजिये, चरणामृत समझकर वह पी ही जायगी और उसे पीते ही मर जायगी।

राणा को यह सलाह पसन्द आई। उसने यह काम अपने किसी विश्वासपात्र दयाराम नामक व्यक्ति के सुपुर्द किया। वह जहर का प्याला लेकर मीरा के यहाँ आने लगा।

ऊदाबाईजी मन से मीरा की भक्त बन चुकी थी। दौड़ी-दौड़ी मीरा के पास गई और जाकर उसने कहा—

भाभी राणाजी कियो थाँरे पर कोप,
रतन कटोरे विष घोलियो।

मीरा सुनकर हँसी और बड़े स्नेह के साथ अपनी ननद से बोली—

बाई ऊदा घोल्यो घोलण दो,
कर चरणामृत वही है पीवस्याँ।

दयाराम आये और उन्होंने काँपते हाथों से लड़खड़ाती हुई वाणी में 'चरणामृत' कहकर सुवर्ण का कटोरा मीरा के हाथ में दिया। मीरा मुसकाई। उसने कटोरा माथे पर चढ़ाया, चरणामृत को शीश नवाया और बड़े ही स्नेह भरे स्वर में गाया—

सीसोद्या राणा प्यालो म्हाँने क्युँ रे पठायो॥
भली बुरी तो मैं नहिँ कीन्हीं राणा क्युँ है रिस्यायो।
थाँने म्हाँने देह दिवी है, ज्याँ री हरिगुण गायो॥१॥
कनक कटोरे लै विष घोल्यो, दयाराम पंडो लायो।
अठी उठी तो मैं देख्यो, कर चरणामृत पायो॥२॥
आज काल की मैं नहिँ राणा, जद यह ब्रह्मांड छायो।
मेड़तिया घर जनम लियो है, मीरा नाम कहायो॥३॥

प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखी, खम्भ फाड़ वेगो धायो।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर, जनको बिड़द बढ़ायो ॥४॥

मीरा ने कहा—"राणा ने जहर क्यों भेजा, जहर भेजने का तो कोई काम न था। मैंने कोई कुकर्म किया होता जिससे कुल में कलङ्क लगता तो ऐसा आचरण ठीक भी था, मैंने तो यही किया है कि जिसने सम्पूर्ण संसार को रचा है उसी के गुणों को गाया है, उन्हीं अपने सच्चे स्वामी को रिझाया है। फिर चरणामृत के नाम से विष भेजकर राणा मुझे मारना चाहता है, यह कैसी भारी भूल है, भला अमृत से भी कोई मर सकता है। कदाचित् कोई मर भी जाय तो वह मरेगा जो विनाशी होगा, अशाश्वत होगा मैं तो अपने अविनाशी शाश्वत स्वामी अनन्त काल की चेरी हूँ। मेरे पति तो ब्रह्माण्डों के भी स्वामी हैं, भला मुझे जहर कैसे मार सकता है। यह राणा की भूल है। कुछ भी हो जब उसने चरणामृत करके भेजा है, तब इसका तिरस्कार करना भी ठीक नहीं। मीरा ने गिरिधर लालजी को मन-ही-मन प्रणाम किया और उस हलाहल विष को पान कर गयी और निर्भय होकर बोली—

मीरा प्याला पी लिया रे, बोली दोऊ कर जोर।
थें तो मारण की करी रे, मेरी राखण हारो और ॥

सचमुच जहर ने अमृत का काम किया। मीरा उस चरणामृत को पीकर धन्य हो गयी। जैसे अग्नि में तपने से सुवर्ण और भी अधिक तेजोमय बन जाता है, उसी प्रकार मीरा की मस्ती और भी अधिक बढ़ गयी। वह उसी तरह अपने प्राणाधार प्रियतम के सामने गा-गाकर नाचती हुई अपनी पीर सुनाने लगी। सुनने वाले आश्चर्य में पड़ गये। सखी सहेलियाँ

मन-ही-मन मीरा के चरणों में प्रणाम करने लगीं, उनकी श्रद्धा उस तपस्विनी के पादपद्मों में और भी बढ़ गयी, किन्तु उस विक्रमाजीत को होश नहीं आया, उसके मन में यह बात नहीं समाई कि जो हलाहल विष को प्रेमपूर्वक पीकर पचा गयी वह साधारण महिला नहीं है, उसे मारने का उद्योग करना निरी-मूर्खता है, किन्तु उसकी बुद्धि तो भ्रष्ट हो चुकी थी। उसे तो कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान ही नहीं था। उसे क्या पता था कि मीरा के हृदय में विष भरा तीक्ष्ण तीर लग गया है और उस जहरीले बाण की चोट से वह स्वयं ही पागली बन गयी है। अरे नासमझ! तू स्वयं ही अपनी लाज तो रख ले तब मीरा की लाज की चिन्ता करना। जो उसके अधीन रहता है उसी को उसकी लाज की चिन्ता होती है। मीरा की लाज वे ही गिरिधर गोपाल रखेंगे। इसी भाव को लक्ष्य करके मीरा ने गाया—

राणाजी तैं जहर दियो मैं जाणी।
जैसे कंचन दहत अगिन में, निकसत बारावाणी ॥१॥
लोक लाज कुल काण जगत की, दइ बहाये पाणी ॥२॥
अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौराणी ॥३॥
तरकस तीर लग्यो मेरे हिय रे, गरक गयो सनकाणी ॥४॥
सब सन्तन पर तन मन वारो, चरण कमल लपटाणी ॥५॥
मीरा को प्रभु राख लई है, दासी अपनी जाणी ॥६॥

विपद् भञ्जन-गिरिधर लाल

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।*

यह हमारी अज्ञानता है, अल्पता है, भूल है कि हम अपने निन्दकों को, दुःख देने वाले खलों को अपना शत्रु समझते हैं। वे तो हमारे साधन में सहायक हैं। जब तक ढोल खूब कसा न जायगा तब तक उसमें से सुन्दर शब्द कैसे निकलेगा। जब तक वीणा को लोहे के मिजराव से आघात न पहुँचाया जायगा तब तक उसमें से झङ्कार तथा स्वर लहरी कैसे निकलेगी। वे हरि का ही एक रूप से इस स्वाँग को रचते हैं। वे ही घड़े वाले कुम्हार की तरह एक हाथ से तो कच्चे घड़े पर जोर से आघात करते हैं और दूसरे छिपे हुए हाथ से उस आघात को अपने ही हाथ पर सहन भी कर लेते हैं, जिससे वह कच्चा घड़ा मजबूत बन जाय, नहीं तो उनकी शरण आने वाले को भय कहाँ ? विपत्ति कैसी ? उसका भला कोई कुछ बिगाड़ सकता है ? उससे कोई कुछ कह सकता है ? चाहे सारा

---

* हे जगत गुरु ! हमें निरन्तर विपत्तियाँ ही प्राप्त होती रहें। हम पर बराबर खलों का कोप बना रहे। क्योंकि हे मेरे श्यामसुन्दर, उन विपत्तियों में तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन तो होता है। तुम उन विपत्तियों के निवारणार्थ स्वयं पधारते हो। जिसे तुम्हारा दर्शन हो गया फिर उसके लिये संसार रहा ही कहाँ ? वह तो फिर संसार से परे हो जाता है। संसार का उसके लिये अदर्शन अर्थात् लोप हो जाता है।

संसार ही बैरी क्यों न हो, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

मीरा के लिये इतने उपाय किये गये। समझाने-बुझाने से नहीं मानी तो उसे जहर दिया गया। उसे भी वह प्रेमपूर्वक पी गई, किन्तु उससे उसकी कान्ति और बढ़ गयी। उसे और भी अधिक अपने साँवरे-सलोने प्राणपति के ऊपर विश्वास जम गया। किन्तु राणा का कोप और भी बढ़ता गया।

उसने एक पिटारी में विषधर साँप बन्द करके मीरा के पास उपहार स्वरूप भेजा। सेवक ने वह पिटारी मीरा को दी। मीरा तो प्रेम में मतवाली थी, वह सब स्थानों में प्रीतम को ही देखती थी, उसके लिये भेद-भाव कहाँ, उसके अपने लिये शत्रु मित्र उदासीन एक थे। उसने बड़े ही प्रेम से वह प्रेमोपहार की पिटारी खोली। लाने वाले के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने देखा न उसमें साँप है, न उसका विष से भरा हुआ तीव्र फण। उसमें तो सालिगराम की मनोहर मूर्ति है और दिव्य गन्ध से युक्त सुन्दर-सुन्दर हार उनके चारों ओर लिपटे हैं। मीरा ने अपने हृदय धन को उठाकर छाती से चिपटाया और उनका प्रसादी हार पहिनकर सम्पूर्ण महल में पूर्णिमा का-सा प्रकाश फैला दिया। उसने जाकर ये बातें राणा से कहीं, किन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ।

प्राचीन काल में एक प्रकार की एक सूल सेज होती थी उसके नीचे तीक्ष्ण काँटे होते थे, जो सभी जहर में बुझे होते थे। उस पर सोने से और उस जहर के असर से सोने वाला स्वतः ही मर जाता था। राणा ने उसे भी मीरा के लिये भेजा किन्तु जब हलाहल विष ही अपना कुछ प्रभाव न कर सका तो फिर वह 'सूल सेज' तो उस अमर देवी को मार ही क्या सकती थी?

मीरा को कुछ भी नहीं हुआ। वह शूलशैय्या उसके लिये फूल शैय्या जैसी हो गयी। मीरा मगन होकर मदनमोहन के मद में मस्त होकर गाती रही।

राणा का तो इस घटनाओं से कोप बढ़ता जाता था, किन्तु मीरा की सङ्गिनी सहेली तथा ऊदाबाई की भक्ति इन बातों से अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। उसे पूरा विश्वास हो गया कि मीरा के प्राणपति श्रीगिरिधरलालजी प्रत्यक्ष प्रकट होकर मीरा की मनोकामना पूर्ण किया करते हैं।

ऊदाबाई का अन्तःकरण भी पवित्र हो चुका था। वह श्री गिरिधर लालजी की चेली बन चुकी थी। एक दिन उसने अत्यंत ही स्नेह के साथ कहा—"भाभी! श्री गिरधर लालजी की हमें तनिक झाँकी का भी सौभाग्य सुख प्राप्त होगा क्या? अपनी तो इतनी ऊँची साधना नहीं, इतना प्रगाढ़ प्रेम नहीं, किन्तु तुम्हारे चरणों में सभी सम्भव हो सकता है। तुम कृपा करो तो हमारा भी यह जीवन सार्थक हो जाय।

मीराबाई का भी ऊदाबाई के प्रति हार्दिक स्नेह हो चुका था। उसकी करुणा भरी दीन विनती सुनकर मीरा ने कहा—"बाई! मैं प्रयत्न करूँगी, देखो वे श्यामसुन्दर बड़े ही निर्मोही हैं। अस्तु तुम उनकी पूजा का सामान ठीक करो।" ऊदाबाई की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। दो अन्तरङ्ग सहेलियों के सहयोग से पूजा की सभी सामग्री ठीक हो गयी। मीराबाई ने अपने बिखरे बालों को सम्हाला, वह अपनी सुहाग की साड़ी ओढ़कर बैठ गयीं। उसके हाथ में करतार थी और दूसरे में तानपूरा। अत्यन्त ही अधीर होकर तन्मयता के साथ वह विरह और प्रेम भरे पद गा-गाकर अपने प्राणनाथ गिरधर लालजी को सुनाने लगी। कभी तो उसका गला भर जाता, कभी कण्ठ भर्राने लगता। वह

अधीर होकर झुक-झुक जाती, लोट-पोट हो जाती, दोनों आँखों से अश्रुओं की अविरल दो धारायें बह रही थीं। उन नयनों के नीर से उसकी छाती भीग गयी, साड़ी सराबोर हो गयी, किन्तु श्याम अभी आये नहीं। पता नहीं वे अपनी प्यारी को इतना क्यों रुलाते हैं? रुलाने में इतना सुख उन्हें क्यों है? तब उसने अत्यन्त ही दीनता के साथ यह पद गाया—

प्यारे दरसण दीजो आय, तुम बिन रह्यो न जाय।

जल बिन कमल चन्द बिन रजनी, ऐसे तुम देख्यो बिन सजनी॥
व्याकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, विरह कलेजो खाय॥१॥
दिवस न भूख नींद नहिँ रैणा, मुखसूं कहत न आवै वैणा।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मिलकर तपन बुझाय॥२॥
क्युँ तरसाओ अन्तरयामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी।
मीरा दासी जनम जनम की, परी तुम्हारी पाँय॥३॥

अन्तिम चरण को गाती-गाती मीरा सचमुच बेहोश हो गयी। बस, फिर क्या था? वे नन्दनन्दन ब्रजचन्द मुरलीधारी गिरिधारीलाल प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। उन्होंने अधीर हुई बाई मीरा को उठाकर हृदय से लगा लिया। मीरा की सभी तन की तपन मिट गयी। उस प्रेमालिङ्गन से वह निहाल हो गई। उसने अपने हृदय के प्रत्यक्ष देवता की पूजा की। पलकों के पाँवड़े बिछाये। नैनों के निर्मल नीर से उन्हें पाद्य, अर्घ्य दिया, स्नेह का हार पहिनाया और उनसे घुल-घुलकर प्रेम की बतोड़ियाँ होने लगीं।

सुनते हैं इसका कुछ समाचार अन्तःपुर के पहरेदारों को भी लग गया, उन्होंने जल्दी से जाकर राजा से कहा—"बाई के घर में किसी पुरुष के होने का सन्देह होता है। राणा तो यह

चाहता ही था, शीघ्रता से वह खड्ग लेकर मीरा के मन्दिर में पहुँचा पूजा का सभी सामान सजा था। ऊदाबाई और सखी सहेली बैठी थीं। मीरा प्रेम में छकी-सी स्थिर भाव से सुखानुभव कर रही थी। आते ही उसने पूछा—"अभी यहाँ कोई पुरुष था ?"

मीरा ने कहा—"पुरुष नहीं पुरुषोत्तम थे और वे तो अब भी इस पलंग पर विराजमान हैं। ये ही मेरे प्राणधन हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं। क्या आप इनके दर्शन नहीं कर रहे हैं ?',

उस हतभाग्य राणा को उस साँवली सूरत मोहनी मूरत के इतने सहज में दर्शन कहाँ ? उसे तो उसकी भावना के अनुसार भयंकर दर्शन दिखाई दिये। हिरण्यकशिपु की भाँति उसे तो भगवान् साक्षात् नरसिंह रूप में दीखे। खैर इतनी ही हुई कि उन्होंने उसी समय उसके उदर को विदीर्ण नहीं किया। राणा उस भयंकर रूप को देखकर भागा। भागते-भागते वह कहता गया "ऐसे भगवान् की पूजा से क्या लाभ ? हमारे कुल में जो एक लिंग भगवान् हैं उन्हीं की पूजा करनी चाहिए।"

इस प्रकार बाई मीरा ने ऊदाबाई तथा राणा दोनों को अधिकारी भेद से दर्शन करा दिये, किन्तु इतने पर भी राणा ने अपना हठ नहीं छोड़ा। वह मीरा को त्रास देता ही रहा किन्तु प्रेमोन्मादिनी को इन त्रासों से दुःख कहाँ। वह तो अपने प्यारे के गुणों में तल्लीन थी वह तो उनके ऊपर निछावर थी। उनके गुणगान में दुःख कहाँ ? शोक कैसा ? वहाँ तो आनन्द है। अतः मीरा ने गाया है—

मीरा मगन भई हरिके गुणगाय।
साँप पिटारा राणा भेजा, मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखनलागी, सालिगराम गई पाय॥१॥

जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय।
न्हाय धोय जब पीवण लागी, हो गइ अमर पचाय ॥२॥
सूल सेज राणा ने भेजी, दीजो मीरा सुलाय।
साँझ भई मीरा सोवण लागी, मानो फूल बिछाय ॥३॥
मीरा के प्रभु सदा सहाई, राखे विघन हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय ॥४॥

चित्तौड़-त्याग

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् काल विद्रुतम् ।।*

भक्तों को तो न मुक्ति चाहिये न धन वैभव । वे संसारचक्र से छूटने की भी इच्छा नहीं करते । वे अपने स्वामी से कह देते हैं—'यद् भाव्यं तद भवतु भगवन्पूर्व कर्मानुरूपम्' यह जो संचित प्रारब्ध का जैसा नियम बना हो, उसे मेटने की हम आपके चरणों में प्रार्थना नहीं करते । ये जैसे होते हैं होते रहें । हे नाथ ! हमारी तो एकमात्र अभिलाषा यही है कि "ममजन्मनि जन्मनीश्वरे भवता भक्तिरहैतुकीत्वयि" कोई भी जन्म क्यों न मिले जन्मजन्मान्तरों में आपकी अहैतुकी भक्ति बनी रहे । 'चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि' मरते समय तक आपके चरण कमलों का चिन्तन बना रहे ।

भक्त तो सेवा चाहता है, जहाँ सेवा में बाधा हो उस पुरुष को उस स्थान को मलवत् त्याग दे । उसमें फिर आसक्ति कैसी, चाहे वह फिर ब्रह्मलोक का सुख ही क्यों न हो ।

---

* भगवान् कहते है—"जिन्होने मेरी सेवा को ही अपना परम कर्तव्य बना लिया है, वे सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्तियों तक की भी परवाह नही करते । वे तो सदा मेरी भक्ति में ही सराबोर रहते है । जब उन्हें मुक्ति तक की इच्छा नही तो इस मान, प्रतिष्ठा, वैभव, इन्द्रासन आदि क्षणभंगुर भोगो की तो वे इच्छा करने ही क्यों लगे ?"

मीराबाई राज महल में रहती थी, उसे खाने-पीने और दान-पुण्य करने की कमी नहीं थी, किन्तु राणा के नित नये उत्पातों से उसे चित्तौड़ में रहना भार-सा प्रतीत होने लगा। जहाँ अपने भाव-भक्ति के साथी न भी हों, किन्तु विरोधी भी न हों वहाँ तो किसी तरह काम चल सकता है, किन्तु जहाँ आये दिन रोज ही विरोध उठता हो वहाँ रहना भी पाप है। मीरा का चित्त ऊब गया था। वह एक आदर्श भक्तिनि की तरह महल के भीतर ही रहकर सेवा पूजा और साधु सेवा-सत्कार करती थी, किन्तु राणा को उसका यह व्यवहार बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। मीरा के ताऊ मेड़ताधीश्वर राव वीरमदेव को जब मीरा की करुणा कहानी का पता चला तो उन्हें अत्यन्त दुख हुआ। उन्होंने मीरा को मेड़ता आजाने के लिये बहुत आग्रह किया। गुप्त रीति से समाचार भी भेजे, अपने आदमी भी पठाये।

मीरा तो उस राजमहल के बन्दीगृह से ऊब ही गयी थी। उसने चित्तौड़ छोड़ने का निश्चय कर लिया। कहावत तो ऐसी है कि मीराबाई रात्रि में अपनी दो सहेलियों के साथ चुपके से गेरुए वस्त्र पहिनकर राजमहल से निकल पड़ी।

इसमें वीरमदेवजी के गुप्त सेवकों की भी सहायता रही होगी। या स्वयं वीरमदेव जी के आग्रह से ही राणा ने उसे मेड़ता भेज दिया होगा। कुछ भी हो, मीरा ने मेवाड़ छोड़ दिया और वह अपने पित्रालय में मेड़ता आ गयी। राव वीरमजी ने उनके रहने खाने पीने और साधु-सेवा का यथोचित प्रबन्ध कर दिया और वे सुखपूर्वक रहने लगीं।

मालूम पड़ता है कि इस कहा-सुनी और जोर की कलह से ऊबकर स्वयं मीरा ने ही राणा के सामने प्रस्ताव किया होगा कि यदि मेरे यहाँ ऐसा आचरण करने से आपकी बदनामी होती

है तो मुझे मायके भेज दो। इधर राव वीरमदेव ने भी दूत भेजे होंगे। अतः राणा ने उसे भेजना ही उचित समझा। पीछे उन्होंने दूत भेजकर मीरा को बुलवाया भी होगा, किन्तु मीरा ने फिर वहाँ जाना स्वीकार न किया होगा, नीचे पद में मीरा ने अपनी पूरी कहानी वर्णन की है। स्वयं ही उसने सभी घटनाओं का उल्लेख किया है—

अब नहिँ बिसारूँ, म्हारे हिरदे लिख्यो हरि नाम।
म्हारे सतगुरु दियो बताय, अब नहिँ बिसारूँ रे॥
मीरा बैठी महल में रे, उठत बैठत राम।
सेवा करस्याँ साधकी, म्हाँरे और न दूजो काम॥१॥
राणो जी वतलाइया, कइ देणो जवाब।
पण लागो हरि नामसूँ, म्हारे दिन दिन दूने लाभ॥२॥
सीप भर्‌यो पानी पिवैरे, टाँक भर्‌यो अन्न खाय।
वतलायाँ बोली नहिँ रे, राणा जी गया रिसाय॥३॥
विषका प्याला राणाजी भेज्या, दीयो मेड़तणी के हाथ।
कर चरणामृत पी गई, म्हारा सबल धणी का साथ॥४॥
बिषको प्यालो पी गई, भजन करै उस ठौर।
थाँरी मारी न मरूँ, म्हारो राखनहारो और॥५॥
राणो जी मोपर कोप्यो रे, मारूँ एकन मेल।
मर्‌याँ परीक्षित लागसी, म्हाँ ने दीजो पीहर मेल॥६॥
राणोजी मोपर कोप्य रे, रती न राख्यो मोद।
ले जाती वैकुण्ठ में, यों तो समझ्यो नहीं सिसोद॥७॥
छापा तिलक बनाइ या, तजिया सब सिंगार।
मैं तो सरने राम के, भल निन्दो संसार॥८॥
माला म्हाँरे देवड़े, सील बरत सिंगार।
अब के किरपा कीजियो, हूं तो फिर बाँधू तलवार॥९॥

रथाँ बैल जुताय के, ऊँटा कसियो भार।
कैसे तोड़ूँ राम सूँ, म्हारो भोरो भरतार ॥१०॥
राणो साँड़्यो मोकल्यो, जाज्यो एके दौड़।
कुल की तारण अस्तरी, या यो मुरड़ चली राठौर ॥११॥
साँड़्यो पाछो फेर्यो रे, परत न देस्याँ पाव।
कर सूरा पण नीसरी म्हारे, कुण राणे कुण राव ॥१२॥
संसारी निन्दा करे रे, दुखियो सब परिवार।
कुल सारो ही लाजसी, मीरा थें जो भयाजी ख्वार ॥१३॥
राती माती प्रेम की, विष भगत को मोड़।
राम अमल मातो रहे, धन मीरा राठौर ॥१४॥

इसका अर्थ यह है—मेरे हृदय में हरिनाम लिख गया है। अब उसे मैं भुला नहीं सकती। क्योंकि हमारे सत्गुरु ने बता दिया है, अतः वह भुलाया नहीं जा सकता। मीरा महल में बैठी रहती है, उठती-बैठती राम-राम रटा करती है और आये हुए साधु-सन्तों की सेवा करती है। इसके सिवाय हमें दूसरा काम ही नहीं।

राणाजी ने पूछा—"यह क्या किया करती है ? उन्हें जबाब दिया कि मैंने तो हरिनाम का जूआ खेला है उसमें मुझे दिन-दिन दुगुना लाभ होता है।

विरह के कारण मैं सीप भर के जल पीती हूँ और चार मासे अन्न खाती हूँ, अर्थात् मेरा खाना पीना बहुत ही कम हो गया है। राणा ने आकर बहुत-सी बातें पूछी, बहुत-सी गाथा गाई, मैं सुनकर चुप हो गई कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर राणा क्रोधित हो गया। उसने विष का प्याला यह कहकर भेजा कि 'इसे मेड़तिया वंश वाली मीरा के हाथ में देना।' मैं उसे चरणा-

मृत मानकर पी गयी, उससे कुछ भी नहीं हुआ क्योंकि बलवान धनी गिरिधर लाल मेरे साथ हैं।

उसी स्थान में विष का प्याला पीकर भजन करने लगी। मैंने कह दिया—"तुम्हारे मारने से मैं मर नहीं सकती। मेरा जिलाने वाला तो कोई और है।"

राणा मुझ पर अत्यन्त क्रोधित हुआ और क्रोध में भर कर उसने कहा—"मैं एक बरछी से तुझे मार डालूँगा।' मैंने कहा—"स्त्री के मारने से पाप लगता है, इसलिये मुझे मेरे पीहर मेड़ता पहुँचा दो। राणा व्यर्थ में ही मुझ पर क्रोधित हुआ। तनिक भी प्रेम नहीं रखा। उस सिसोदिया वंश के राणा ने यह तो समझा नहीं कि भजन के प्रताप से उसे भी वे वैकुण्ठ ले जाती।

मैंने श्रृंगार छोड़कर तिलक छापे लगा लिये। मैं तो रामजी की शरण में हूँ। संसार निन्दा करता है तो भले ही करता रहे। भगवान की ही हमारी माला है, शील व्रत ही श्रृंगार है। हे मेरे स्वामी! मुझ पर अब की कृपा करो, मैं फिर से तलवार बाधूँगी।

रथ में बैल जुताये गये, ऊँटों पर सामान लादा गया और मेड़ता की ओर चल दी। भला, मैं रामजी से सम्बन्ध कैसे तोड़ सकती हूँ, वे तो हमारे जन्म जन्मान्तर के पति हैं।

जब घर से निकल गई तो राणा ने लौटाने के लिये साँड़नी पर सवार भेजा कि जल्दी से दौड़कर जाओ, यह स्त्री तो कुल को तारने वाली थी। मालूम पड़ता है राठौर की लड़की मीरा रूठ कर जा रही है। मैंने साँड़िनी वाले सवार से कहा—" तू अपनी साँड़िनी को पीछे लौटा ले जा, अब मैं लौटकर चित्तौड़ में पैर भी नहीं रखूँगी। मैं तो शूरवीरों का-सा

प्रण करके घर से निकली हूँ, मेरे लिये कौन राणा कौन राव।

उस साँड़िनी वाले सवार ने कहा—संसारी लोग सभी निन्दा करेंगे। परिवार के सभी लोग दुखी होंगे, यह बात सम्पूर्ण कुल के लिये लज्जाजनक होगी कि तुम्हारा चित्त दुखी हुआ और तुम रूठकर चली गयी।

मीरा कहती है—"मैं तो प्रेम की राती माती हूँ। भगत का मोल विष है। मैं तो राम-नाम के अमल में मस्त रहती हूँ राठौर की लड़की मीरा इसी में धन्य है।"

मीराबाई आकर मेड़ते में रहने लगी। इधर मीराबाई के मेवाड़ छोड़ते ही राणा पर विपत्तिकों के पहाड़ टूट पड़े। राणा विक्रमाजीत सिंह के क्रूरता-पूर्ण व्यवहार से सभी क्षत्रिय वीर सरदार तथा प्रजा के समस्त लोग असन्तुष्ट तो पहिले ही से थे, अब धीरे-धीरे सभी सरदार उससे द्वेष करने लगे और आपस में कुछ फूट पड़ गयी। आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध हो गये। विक्रमाजीत सिंह को कोई भी राजा सिंहासन पर देखना नहीं चाहता था। प्रजा के लोगों के अतिरिक्त और भी जो आस पास के क्षत्रिय तथा यवन राजा थे वे पहिले ही से चित्तौड़ के इन उत्कर्ष से डाह करते थे। अनेक बार महाराणा साँगा ने सभी के दाँत खट्टे किये थे। महाराजा के सामने किसी की हिम्मत तक नहीं पड़ती थी कि मेवाड़ की तरफ आँख उठाकर भी देखता। किन्तु महाराणा के परलोकवासी हो जाने पर तथा विक्रमाजीत सिंह की नीचता और अत्याचारों के कारण मेवाड़ की शक्ति क्षीण हुई देखकर महाराणा के पुराने शत्रु गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। यवनों की सेना को चित्तौड़ के चारों ओर टिड्डीदल की भाँति मँडराते देखकर क्षत्रिय वीरों के छक्के छूट गये। शत्रु को पराजित करने के लिये

सभी सरदारों ने परस्पर का वैर त्याग दिया और सभी ने एक होकर बड़ी बहादुरी से यवन सेना का मोर्चा लिया। सुलतान अपनी सेना के सहित प्राण लेकर भाग गया। विजयलक्ष्मी मेवाड़ के वीर सरदारों के हाथ रही।

सुलतान भला कब चुप बैठने वाला था, उसने पुनः शक्ति संचय करके मेवाड़ पर चढ़ाई की। इस बार उसने क्षत्रिय वीरों की बहुत बड़ी हानि की। यद्यपि वह मेवाड़ को विजय तो नहीं कर सका, किन्तु सम्पूर्ण राज्य को उसने शक्तिहीन बना दिया। विक्रमाजीत ने भी अपनी करनी का फल पाया। महाराणा साँगा के भाई पृथ्वीराज की उपपत्नी से पैदा हुए बनवीर ने विक्रमाजीत सिंह को मार डाला। प्रजा तो सभी विक्रमाजीत से असंतुष्ट थी ही, अतः किसी भी सरदार ने विक्रमाजीत सिंह की मृत्यु का विरोध नहीं किया। सं० १५९४ के करीब विक्रम को मारकर बनवीर मेवाड़ का राजा बन गया। मीरा जैसी भगवद्भक्तों को कष्ट पहुँचाने से न तो उसका यही लोक सुखमय बना और न उसे क्षत्रिय वीरों की सी सत्गति ही प्राप्त हुई। ठीक ही कहा है—

हिंस्रस्वपापे विहिंसितः खलः सा समत्वेव भयात् विमुच्वते।*

इधर मीराबाई मेड़ता में सुखपूर्वक भगवत् भजन में मस्त थी। राज्य के अनेक झगड़े होते हैं। राव दूदाजी परम पराक्रमी थे, उन्होंने तो अपने पराक्रम से मेड़ता को स्वतन्त्र राज्य बना लिया था, किन्तु जोधपुर के राव मालदेव को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने युद्ध करके वीरमदेवजी से मेड़ता छीन लिया और

---

* दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाला हिंसक दुष्ट पुरुष अपने पाप के करण ही मर जाता है। साधु पुरुष सभी में समभाव रखते है अतः वे भय से छूट जाते हैं।

उसे अपने राज्य में मिला। मालदेव और वीरमदेव दोनों भाई–भाई ही थे। आपस में चाहें जैसे लड़े किन्तु मीराबाई को तो दोनो ही मानते थे। मालदेव ने भी अपनी भतीजी मीराबाई का सम्मान किया। किन्तु इन राज्यों की उथल-पुथल से मीरा का मन एकदम उदास हो गया। परिजनों की एक के बाद एक इस प्रकार सभी की मृत्यु से उसे संसार से विराग तो पहिले से ही हो चुका था, अब अपने ससुराल और मेड़ता दोनों राज्यों से इस उलट-फेर ने तो उसे संसार की निस्सारता एकदम सुझा दी। उसका विरागी मन वृन्दावन विहारी के सानिध्य में श्री ब्रज की पावन धूलि के लिए तड़पने लगा। अब उसे वे सुन्दर-सुन्दर महल राज्य-वैभव, राजसी सामग्रियाँ काटने को दौड़ने लगीं। उसे प्रतीत होने लगा कि संसारी भोग ही दुःख के मूल कारण हैं। इन राज्य वैभव भोग और सम्मान के पीछे भाई शत्रु बन जाता है। इसलिए वह वृन्दावन जाने का निश्चय करके घर से निकल पड़ी अपने प्रियतम से मिलने के लिए वह कुल की मान प्रतिष्ठा को तिलांजलि देकर निर्भयतापूर्वक निकल पड़ी। उसने स्वयं गाया है—

तेरा कोई नहिँ रोकन हार मगन होय मीरा चली ॥
लाज सरम कुल की मरजादा सिर से दूर करी।
मान अपमान दोऊ घर पटके निकसी हूँ ज्ञान-गली ॥१॥
ऊँची अटरिया लाल किवड़िया निरगुन सेज बिछी।
पंचरङ्गी झाल सुभ सोहै फूलन फूल कली ॥२॥
बाजू बन्द कड़ूला सोहै सेंदुर माँग भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली ॥३॥
सेज सुखमरण मीरा सोवै सुभ है आज घरी।
तुम जाओ राणा घर अपणे मेरी तेरी नाहिँ सरी ॥४॥

श्री वृन्दावन में वास

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्
बृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुमुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥*

महात्मा कबीर जी की एक साखी है—

उठा बबूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनके से मिला तिनका तिनके पास ॥

प्रेम से प्रादुर्भूत प्राणी प्रेम के लिये ही सदा छटपटाता रहता है। जिस स्थान से आया है उसी में फिर पहुँचने का प्रयत्न यह जीव निरन्तर करता रहता है। उसी का नाम लगन है, प्रवाह, पतन, पुरुषार्थ, साधन, संयोग जो चाहे कह लीजिए। यहीं तक जीवन में यह भाव है। वहाँ पहुँचते ही अपनापन मिट जाता है, प्रियतम के पाद-पद्मों में सर्वतोभावेन अपने को समर्पित कर

---

* संसार में सगे सम्बन्धी और स्वजनो का परित्याग करना अत्यन्त ही कठिन है, जिन गोपियो ने उन कठिनता से त्यागे जाने वाले कुटुम्बियों का भी त्याग करके उन प्रभु के चरणो का आश्रय लिया है जिन्हें पाना श्रुतियो के लिये भी कठिन है। उन महाभाग गोपियों की पावन चरण धूलि जिन छोटे-छोटे वृक्षों पर, लता गुल्मो पर पड़ती हो, उन्हीं वृन्दवन के वृक्षों में से कोई एक वृक्ष मैं भी बन जाऊँ ऐसी मेरी एकान्तिक आशा है, इच्छा है, बासना है।

देना यही पुरुषार्थ की पराकाष्टा है। वे सच्ची लगन के परम पुरुषार्थी, भाग्यवान् सुसंयोगी साधक धन्य हैं, जो इस प्रेम-प्रवाह में बहते-बहते स्वयं ही अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच गये हैं।

मेड़ता राज्य जोधपुर के अधीन हो जाने पर बाई मीरा वहाँ से निकल पड़ीं, संसारी लोगों में अब उसका मन नहीं लगा। वहाँ से चलकर वे श्री श्रीवृन्दावन में आईं। कृष्ण रङ्गराती यमुनाजी के दर्शनों को जो मीरा व्याकुल थी उसने कृष्ण-कृष्ण करती हुई श्यामा यमुना को मंदगति से बहती हुई देखी। जिस व्रजधूल की महिमा गाते-गाते वह पगली बन गई थी, उस व्रज की परमपावन रज में वह लोटपोट हो गई यमुनाजी का वह पुलिन, कदम्ब वृक्षों की वह सुन्दर सघन श्याममयी छाया, करीलों की वे झाड़ियाँ, पीलुओं की मनोहर टेढ़ी-मेढ़ी बनी उन कुञ्जों को देख-कर मीरा का मन नृत्य करने लगा। कीचड़ में फँसी हुई मछली जल के अभाव से छटपटाती रहती है और कीचड़ में सने हुए जल के कारण मरती नहीं किन्तु प्रतिक्षण जल के लिये ही व्याकुल बनी रहती है और संयोग से बादलों की कृपा से कीच से निकलकर किसी तरह अथाह समुद्र में पहुँच जाय तो वहाँ जाकर जितनी वह मछली सुखी होगी उतनी ही मीरा वृन्दावन के महारण्य में जाकर सुखी हुई। उसने बंशीवट को देखा, उसे देखते-देखते वह बेहोश हो गई। उसने पुकारा—'श्याम! तनिक एक बार फिर तो बंशी की ध्वनि सुना दो।' वह पगली बंशी की ध्वनि सुनने को तृषित पपीहा-पत्नी की भाँति आशा लगाये खड़ी रही। तब उसने उन बाँकेविहारी की बाकी-झाँकी की। चिरकाल के बाद उस साँवरी सलोनी मूरति को देखकर मीरा अवाक् रह गई। वह शिष्टाचार भूल गई। फिर कुछ प्रकृतिस्थ

होने पर उसने अपने आराध्यदेव को, जीवन धन को, चिरसंगी को, प्राण-जीवन को, हृदय-धन को और प्राणनाथ को प्रणाम किया, वह गा उठी—

हमारो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक बिराजे, कुण्डल अलकारी को॥
अधर मधुर पर बन्सी बजावै, रीझ रिझावै राधाप्यारी को।
यह छबि देख मगन भई मीरा, मोहन गिरिवरधारी को॥

सचमुच मीरा मगन हो गई। मगन होने की जगह ही थी। यहाँ सभी अपने आपको भूल जाते हैं। भक्तवर श्री विल्वमंगल-जी ने एक स्थान पर व्रज प्रेम की पराकाष्ठा बताते हुये वर्णन किया है एक गोपिका थी, वह पगली नई ही आई थी, आते ही श्याम रंग में रङ्ग गई। इतनी गरक भई कि सब सुधि-बुधि भूल गई। श्याम-तन श्याम-धन यहाँ तक कि उसके रोम-रोम में श्यामता बिध गई। घर की सास नन्द ने उसे दूध दही बेचने के लिये भेजा। दूध दही भला कैसे बेंचती, मन तो मनमोहन के समीप चक्कर लगा रहा है। वाणी तो उस बनवारी के वश-वर्तिनी हो चुकी है। उसे कहना चाहिए था—'दही लो री दही! दूध लो री दूध! किन्तु वह यह न कह कर कहती है—'हे गोविन्द! हे दामोदर! माधव!'

बिक्रेतु कामा किल गोप कन्या मुरारिपादार्पित चित्तवृतिः।
दध्यादिकं मो वशादवोचत् गोविन्द दामोदर माधवेति॥

यही हाल मीरा का भी हुआ। वह सब कुछ भूल गई। उसे बस वृन्दावन में आकर अपने श्यामसुन्दर की धुनि थी व्रज का टोना उसे लग गया। इसलिए उसने गाया—

या ब्रज में कछु देख्योरी टोना।
ले मटुकी सिर चली गुजरिया, आगे मिले बाबा नन्द के छोना॥
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी, ले लेहु कोई श्याम सलोना।
बिन्द्रावन की कुञ्ज गलिन में, आँख लगाइ गयो मन मोहना।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, सुन्दर श्याम सुघर सलोना॥

उस सुन्दरता का नशा मीरा की आँखों में समा गया। बस वह उन वृन्दावन की हरी-हरी लताओं में 'हरी-हरी' पुकारती बावरी बनी बिचरती रही। उसकी उपासना थी, मैं उनकी दासी हूँ वे मेरे स्वामी हैं।

उन्हीं दिनों श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुगत ६ गोस्वामी भी वृन्दावन में आये थे। कहना चाहिये कि उन्ही की कृपा से वृन्दावन रसिकों का निवास स्थान बना और उनकी प्रेरणा से बहुत से मन्दिरों की रचना हुई। श्रीरूपसनातनजी तो पहले ही आ चुके थे इसके पश्चात् उनके भतीजे जीवगोस्वामी भी वहाँ आ गये। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के मानने वाले भक्तों का सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण जीव प्रकृति-स्वरूप है, पुरुष तो वे ही एक नन्द-नन्दन श्री यशुमति कुमार हैं। सभी उनके भोग्य हैं भोक्ता तो वे ही अद्वितीय हैं अतः उनकी उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है—"रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता" उनकी उपासना मधुर भाव की है, जिस तरह ब्रजाङ्गनाएँ श्री वृन्दावन-बिहारी की उपासना करती थी, श्री वृन्दावनाधीश्वरी श्रीजी की कृपापात्र किंकरी मानकर प्यारे प्रियतम की लीलाओं का रसास्वादन करते रहना ही परमातिपरम पुरुषार्थ है। यही इनकी उपासना का भाव है।

मीरा की उपासना इससे कुछ भिन्न थी, उसे दूसरे की जरूरत नहीं थी। उसका सम्बन्ध श्यामसुन्दर से था वह उनके प्यारे

थे, यह इनकी प्रियतमा थी। अतः मधुर उपासना होने पर भी सापेक्षा नहीं थी वह निरपेक्ष, स्वतन्त्र और कभी न हटने वाली अखंड थी।

सुनते हैं एक बार मीराबाई श्री जीवगोस्वामीजी के दर्शनों को गईं। उन दिनों श्री जीवगोस्वामीजी के त्याग, वैराग्य और पांडित्य की खूब ख्याति थी। मालूम होता है वे नये-ही-नये घर से आये थे। उन दिनों वे स्त्रियों से नहीं मिलते थे, सेवकों ने जाकर संदेश कहा कि श्री मीराबाई आपके दर्शनों के लिये खड़ी हैं, गोस्वामीजी ने कहा—"कह दो, हम स्त्रियों से नहीं मिलते, वे दर्शन करके चली जायँ।" तब मीराबाई ने हँसकर मीठी चुटकी लेते हुए कहलाया—"मैं अब तक यही समझती थी की इस वृन्दावन में पुरुष तो एकमात्र वे ही ब्रजचन्द्र हैं, शेष सभी उनकी किंकरी हैं, किन्तु अब पता चला कि उनके कोई पट्टीदार भी हैं।

इस गूढ़ ज्ञानमयी बात को सुनकर गोस्वामी जी लज्जित हुए और स्वयं नंगे पाँवों ही अपने स्थान से दरवाजे पर दौड़े आये।

मीराबाई का व्यक्तित्व ऐसा था कि उसके सामने सभी का सिर स्वयं नत हो जाता था। वृन्दावन में उसकी चारों ओर ख्याति फैल गई। दूर-दूर से भक्त मीरा के दर्शनों को आते। वह एक हाथ में करताल लेकर रुँधे हुए कण्ठ के जब गाती 'मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरो न कोई' तब सुनने वाले जड़वत् चित्र लिखे की तरह उसके अश्रुपूर्ण मुखारविन्द को निहारते ही रहते। उसकी वृत्तियाँ सदा वृन्दावन विहारी के रूप रङ्ग में डूबी रहती। उसका मन सदा मोहन की मोहिनी मूरत में सना रहता।वह पल-पल पर, स्वाँस-स्वाँस पर, अपने प्यारे को पुकारती, अधीर हो जाती और वृन्दावन की लता पत्रों आदि से अपने प्राणाधार का पता पूछती। वृन्दावन की वे निबिड़

निकुञ्जें, वह सघन वृक्षावली, यमुना जी का वह निर्मल जल उसे हठात् अपनी ओर खींचता रहता। वह रात्रि भर रोती रहती, कभी अपने प्यारे को ताना देती, कभी उनकी कठोरता की शिकायत करती और कभी विरह वेदना में अधीर होकर फूट-फूटकर रोने लगती। एक पतिव्रता अपने पति के लिये जो भी कुछ करती है, वही मीरा का वृन्दावन में कार्य था। वृन्दावन का वास उसे आनन्दमय और प्रेममय प्रतीत हुआ। क्यों न हो यह वहीं की तो थी, अपना घर किसे प्यारा नहीं लगता, फिर वह फूटा ही क्यों न हो। वृन्दावन की महिमा को याद करके मीरा गा उठती।

आली म्हाँने लागे वृन्दावन नीको।

घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरशण गोविन्द जी को॥
निरमल नीर बहत जमुना में, भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासण आप विराजैं मुकुट धर्‌यो तुलसी को॥
कुञ्जन कुञ्जन फिरत राधिका, सबद सुणत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, भजन बिना नर फीको॥

—:०:—

प्रेमासक्तिनी

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके ।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सति को जीवति ।।*

प्रेम मस्तिष्क की कसौटी पर कसने की चीज नहीं है । वह तो हृदय की ज्वाला है, छिपी हुई ज्वालामुखी है कब प्रकट होती है, कैसी होती है, किसके होती है, इसे कोई नहीं जानता । जिन्हें लोग मूर्ख कहते हैं, लोग वेद से बहिष्कृत समझते हैं, वे प्रेम देव के मन्दिर के प्रिय पुजारी बन जाते हैं और जो बड़े शास्त्रज्ञ हैं, ज्ञानी हैं, पंडित हैं, अभिमानी हैं वे केवल इन्हीं श्रेष्ठ साधनों से प्रेम के दरवाजे तक भी नहीं पहुँच पाते । प्रेम तो हृदय की आग है, जिससे अभिमान, कुलकानि, इन्द्रिय वासनायें स्वतः ही बिना परिश्रम के ही जल जाती है । प्रेम वह गङ्गा है जो अनिच्छापूर्वक भी घुसे हुए आदमी के पापों को बलात् भस्मसात् करती है । इसलिये भगवान् नारद ने प्रेम की व्याख्या की है—

गुणरहितं कामना रहितं प्रतिक्षण वर्धमानम् ।
अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपम् ।।

प्रेम वैसे तो अलक्षणीय है । उसके लक्षण हो ही नहीं सकते, फिर भी काम चलाने के लिये प्रेम के ६ विशेषण दिये हैं ।

---

* इस वासनामय जगत् में पहिले तो प्रेम होना ही दुर्लभ है, यदि प्रेम हो भी जाय तो कपटरहित विशुद्ध प्रेम नही होता । निष्कपट प्रेम होने पर भी विरह नहीं होता । यदि कदाचित् विरह भी हो तो फिर कौन जी सकता है ?

१-गुणरहित, २-कामनारहित, ३-प्रतिक्षण बढ़ने वाला, ४-विच्छेद से रहित, ५-सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और ६-अनुभव से ही जानने योग्य। प्रेम में ये बातें अवश्य होती हैं।

सामान्य रीति से प्रेम गुणों को ही देखकर किया जाता है। भगवान् में भी समग्र ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, ज्ञान और वैराग्य ये ६ समग्र ऐश्वर्य गुण विद्यमान हैं और इन गुणों के रहने पर वे जगत् के श्रद्धेय हैं हीं। किन्तु गुणों को ही लक्ष्य मानकर उनके ही कारण किये हुए प्रेम को प्रेम न कहकर श्रद्धा कह सकते हैं। श्रद्धा तो कभी बढ़ जाती है, कभी घट जाती है, यहाँ तक कि उन गुणों का अभाव देखने पर श्रद्धा नष्ट भी हो जाती है, किन्तु प्रेम तो कभी भी घटने वाली चीज नहीं है। वह तो अनन्त काल तक बढ़ता ही जाता है। अतः प्रेम अपने प्रेमास्पद के गुण नहीं देखता एक कहावत प्रसिद्ध है कि गोस्वामी तुलसीदासजी से किसी ने कहा—"श्रीकृष्ण भगवान् तो १६ कलापूर्ण अवतार हैं और श्रीरामजी तो बारह ही कला पूर्ण हैं, आप श्रीकृष्ण भगवान् की जिनके सम्बन्ध में कहा गया है "ऐते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" उन पूर्ण रूप को उपासना क्यों नहीं करते ?" आश्चर्य के साथ गोस्वामीजी ने कहा—"भैया तुम्हारा भला हो, तुमने बड़ी सुन्दर बात बता दी। श्रीरामजी अवतार भी हैं क्या ? मैं तो दशरथ नन्दन करके ही उनकी अब तक उपासना करता रहा, अब तो एक और एक ग्यारह हो गये, अब तो मेरी निष्ठा और भी दृढ़ होनी चाहिये।"

तात्पर्य इतना ही है कि प्रेम को गुणों की अपेक्षा नहीं। वह तो गुणों से परे है, सगुण निर्गुण दोनों ही गुण से रहित है।

प्रेम की दूसरी विशेषता है कामनारहित होना। लोग कहा

करते हैं, अजी एक हाथ से संसार को भी पकड़े रहो दूसरे से प्रेम भी करते जाओ। काम-क्रोध का जीतना अत्यन्त ही कठिन है। 'भाई प्रेम के लिये ही सब कुछ मत छोड़ दो, जो ऐसी बातें करते हैं उन्हें अभी तक प्रेम के प्रभाव का परिचय नहीं। और प्रेम में कैसा काम, कहाँ का क्रोध ? पूर्ण प्रेम होना तो दूर की बात है, यदि प्रेम का एक कण भी हृदय में प्रवेश कर जाय तो ये काम क्रोध तो उसी क्षण भस्म हो जायँगे। दीपक लेकर आप घर के भीतर अँधेरे को ढूँढ़ने जाइये क्या आपको दीपक के प्रकाश में कहीं अन्धकार मिलेगा। यदि नहीं मिला तो क्या आपने अन्धकार को भगाने के लिये कोई प्रबल पुरुषार्थ किया ? प्रेम दीपक की ज्योति जला तो लो फिर देखना तुम सभी प्रकार के भय से छूट जाओगे। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्यत्रायते महतो भयात्' किन्तु यह सब संसारी कामों के रहते न होगा। प्रेम में कैसी भी कामना के लिये स्थान नहीं। वैष्णवों ने कहा है—

भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाचीहृदि वर्तते।
तावत् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

भुक्ति-मुक्ति की कामना-रूपी पिशाची जब तक हृदय में वर्तमान है तब तक प्रेम-रूपी भक्ति का उदय कैसे हो सकता है ? अतः प्रेम कामनारहित होना चाहिये।

प्रेम का तीसरा लक्षण यह है कि वह प्रतिक्षण बढ़ने वाला हो। प्रेम अपार समुद्र है, उसका कहीं पार नहीं। पार उन चीजों का होता है जिनके आगे कोई दूसरी चीज हो, जैसे त्रिवेणीजी के पार मैं गया। यानी गङ्गा यमुना के सङ्गम से आगे जहाँ जल समाप्त होकर शुभ्र बालुका आ जाती है वहाँ मैं पार उतरा। किन्तु प्रेम के आगे तो कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, वह तो एक अद्वितीय अपार पार की भी पराकाष्ठा है, अतः आगे ज्यों-ज्यों

बढ़ोगे वह भी बढ़ता ही जायगा और उसके बढ़ने की भी कोई सीमा नहीं, क्योंकि जैसे प्रेम का रूप असीमित है उसी प्रकार प्रेमी की वर्धन क्रिया भी असीम है, वह भी कितनी बढ़ सकती है, इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकता। रसखान कहते हैं—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर सरिस बखान।
जौ आवत यदि ढिँग बहुरि, जात नहीं रसखान॥

प्रेम का चौथा लक्षण है अविछिन्नता। जैसे गङ्गाजी का प्रवाह रुकता नहीं, हमेशा बढ़ता ही रहता है उसी तरह प्रेम का स्रोत निरन्तर बहा ही करता है रुकने से उसकी निरन्तर की वृद्धि में अन्तर पड़ जाता है, प्रेम में जुदाई नहीं, उसमें तो एकता है।

पाँचवाँ लक्षण है अति सूक्ष्म होना। मतलब यह कि परमाणु भी गिने जा सकते हैं, अनन्त कोटि ब्रह्मांडों का भी समाधि से प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्मात्रायें, अहङ्कार, बुद्धि इन सबका भी अनुमान आदि प्रमाणों से भी देखा जा सकता है, किन्तु प्रेम तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। सूक्ष्मता की वहाँ पराकाष्ठा है इसीलिये अन्तिम लक्षण दिया है, 'अनुभव-रूपम्' अर्थात् वह अनुभव की वस्तु है। किस प्रकार 'मूका-स्वादनवत्'। गूँगे पुरुष को कोई बढ़िया-से-बढ़िया पदार्थ खिला-इये, वह उसे वाणी से कह नहीं सकेगा। मन-ही-मन उसका अनुभव करके प्रसन्न होगा।

यह प्रेम तो एक ही है, किन्तु आचार्यों ने इसके १२ भेद किये हैं। गुणमाहात्म्यासक्ति, रुपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणा-सक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति इनमें

से एक वासल्यासक्ति को छोड़कर और सभी प्रकार की आसक्तियाँ मीराबाई के जीवन में मिलती हैं। यदि वात्सल्यासक्ति का व्यापक अर्थ प्यारे शिशु में आसक्ति ऐसा कर लें तब तो ये पूरी की पूरी आसक्तियाँ मीरा के पदों में पायी जाती हैं। मीरा की साधना बहुत ही ऊँची है। वह गोविन्द में सर्व प्रकार से आसक्त हो गयी थी, उसने गाया है—

माई मैं तो गोविन्द सों अटकी।

चकित भये हैं दृग दोउ मेरे, लखि शोभा नटकी ॥१॥
शोभा अङ्ग-अङ्ग प्रति भूषण, वनमाला तटकी।
मोर मुकुट कटि किंकनि राजै, दुति दामिनि पटकी ॥२॥
रमित भई हौं साँवरे के सँग, लोग कहैं भटकी।
छुटी लाज कुल कानि लोग डर, रह्यो न घर हटकी ॥३॥
मीरा प्रभु के सङ्ग फिरैगी, कुञ्ज कुंज लटकी।
बिन गोपाल लाल बिन सजनी, को जाने घटकी ॥४॥

——

मीरा की गुणमाहात्म्यासक्ति

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग ॥*

भगवान् शौनक ने पूछा—"सूतजी ! एक बात हमारी समझ में नहीं आयी । तुमने कहा कि व्यासजी से उनके पुत्र महायोगी शुकदेव ने यह श्रीमद्भागवत पढ़ी सो कैसे ? शुकदेव तो जन्म से ही संन्यासी, विषयों में अनासक्त और निरपेक्ष थे, उन्होंने इतनी बड़ी यह भागवत संहिता पढ़ कैसे ली ? इस पर सूतजी ने बड़े ही मार्मिक शब्द में कहा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः ॥

भगवन् ! आपने तो बात ठीक कही, किन्तु इस विषय में लागू नहीं । आत्मा में रमण करने वाले, अहंता-ममता से हीन अथवा ग्रन्थों का भी अभ्यास छोड़ने वाले ऋषि मुनिगण भगवान् नन्दनन्दन के प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि

---

* भगवान् के गुण महात्म्य में आसक्त हुआ पुरुष भगवान् के जगन्मङ्गलकारी जन्म तथा कर्मों की कथाओं को तथा जन्मकर्मानुसार रघुनन्दन, देवकीनन्दन, गोवर्धनधारी, सरचापधारी आदि मनोहर नामों को, जिनका कि गायन संसार में होता है सुनता हुआ और स्वयं उनका गान करता हुआ संसार से असंग होकर विचरण करे ।

भगवान् के गुणों का माहात्म्य है ही इतना आकर्षक कि कैसा भी त्यागी विरागी हो उसे हठात् अपनी ओर खींच लेते हैं।

सचमुच भगवान् के गुणों में ऐसा जादू भरा है कि जिस भाग्यशाली को उनके श्रवण कथन का चस्का लग गया बस, फिर वह उन्हीं का हो जाता है। वे नित्य-नूतन से होते जाते हैं, उनमें प्राचीनता आती ही नहीं। 'स्त्रियां विटानामिव साधुवार्ता।' कामुक पुरुष उन्हीं स्त्रियों की बातों को बार-बार सुनते हैं और सुनते-सुनते तृप्त नहीं होते। इसी तरह भगवत् गुणों में नित्य प्रति अतृप्ति ही बढ़ती जाती है।

जिसकी आत्मा को कृष्णरूपी भूत ने पकड़ लिया है, जो कृष्ण-ग्रह-ग्रहीतात्मा है, उसके कान में जहाँ भगवान् के नाम, यशलीला, धाम का शब्द पड़ा नहीं कि उसकी आँखों ने प्रेमाश्रुओं की झड़ी लगाई नहीं। सहजो बाई ऐसे ही प्रेमी भक्तों के सम्बन्ध में कहती है—

प्रेम दिवाने जो भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसो छुटै, कबहूँ टपकै नैंन॥
प्रेम दिवाने जो भये, सहजो डिगमिग देह।
पाँव पड़े कितकै किती, हरि सम्हाल जब लेह॥

सचमुच जो भगवान् के महद्गुणों के रङ्ग में, रङ्ग चुका है, उन पर अपना सर्वस्व हार चुका है, उसे अपने शरीर सुख की चिन्ता नहीं रहती, उसकी सम्हाल तो श्री हरि ही करते हैं। वैसे भगवान् के अनन्त गुण, अनन्त लीला, अनन्त नाम हैं, किन्तु जहाँ उन्होंने पतितों पर कृपा की है उसी प्रसङ्ग को सुनकर भक्त को सहारा मिलता है। सच्ची बात तो यही है, उसी प्रलोभन में बेचारा फँस जाता है और वह फन्दा ऐसा जबरदस्त है कि

'जो आवत यहि ढिंग बहुरि जात नहीं रसखान' इधर आया नहीं कि लोक वेद दोनों से ही बेकाम हो गया 'डूबा प्रेम सिन्धु का कोई हमने नहीं उछलते देखा' जिसने एक बार भी दिल खोलकर डुबकी लगा ली बस फिर वह वहीं का हो रहा। भक्त जब सुनता है—

अहो वकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोन्यम् कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

राक्षसी पूतना उन यशोदनन्दन को मारने की इच्छा से अपने स्तनों पर कालकूट विष लगाकर आई थी, किन्तु ऐसी क्रूर कर्म करने वाली राक्षसी को भी स्तन पिलाने के नाते से माता की जैसी गति दे दी। ऐसे दयालु स्वामी को छोड़कर फिर भला किसकी शरण जायँ। बस, इन्हीं बचनों का नाम गुण माहात्म्य-वर्णन है। मीरा बार-बार अपने को समझाती है। अपने प्यारे के इन गुणों पर आसक्त होकर व्याकुलता के साथ कहती है—

अब मैं शरण तिहारीजी, मोहि राखौ कृपा निधान ॥
अजामिल अपराधी तारे, तारे नीच महान।
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान ॥१॥
और अधम तारे बहुतेरे, भाखत संत सुजान।
कुब्जा नीच भीलनी तारी, जानै सकल जहान ॥२॥
कहँ लग कहूँ गिनत नहिँ भावै, थकि रहे वेद पुरान।
मीरा कहै मैं शरण थाँरी, सुनये दोनों कान ॥३॥

हे कृपा के सिन्धो! हे दीनों के बन्धो! मुझे भी कहीं श्री-चरणों के किसी कोने में स्थान दो। यदि कहो कि तू स्त्री इस योग्य नहीं तो सरकार! आपके दरबार में भी योग्यों की ही

पूछ है क्या ? प्राणनाथ ! अजामिल क्या सदाचारी था ? सदन तो जाति के कसाई थे। यह ठीक है, इन्हें दुर्लभ मनुष्य-योनि प्राप्त थी, किन्तु गजराज तो पशु था। उसकी बात भी छोड़ दो, तुम कहोगे ये तो सभी पुरुष थे, स्त्रियों का अधिकार नहीं। सो हे मेरे मालिक ! तुम्हारी कृपा के वितरण में भला कभी स्त्री पुरुष का भेद-भाव हो सकता है ? गणिका तो महा निन्दित कर्म करने वाली थी, उसने भजन तक नहीं किया, तोते को पढ़ाते-पढ़ाते ही वह तुम्हारे द्वारा अपना ली गई। यदि कहो कि वह सुन्दरी थी तो दयासिन्धो ! कुब्जा कहाँ की रूपवती गुणवती थी, उस पर भी आपने कृपा की। आप कह सकते हैं वह बड़े नगर में निवास करने वाली सुशीला सभ्या थी। तो प्राणेश ! भिलनी तो जंगल की रहने वाली थी, अधम जाति की थी, वृद्धा थी, और नगर के सदाचारों से भी परिचित नहीं थी। इन सभी उदाहरणों से मेरी विनती यही है कि हे मेरे सर्वस्व ! मुझे भुलाओ मत। मेरी भी अरजी सुन लो और लापरवाही के साथ नहीं, दोनों कानों को खोलकर। यदि कहो तू पूजा-पाठ आचार-विचार तो जानती ही नहीं तो हे पतितपावन ! यदि आचारवती, रूपवती गुणवती को ही तुम तारो तो तुम्हारी तारीफ ही क्या रही। मैंने तो यही सुना है—

भक्त्या तुष्यति कैवलेर्न तु गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ।

आप गुणों से तुष्ट नहीं होते, भक्ति से तुष्ट होते हैं, क्योंकि आपको भक्ति बहुत प्यारी है। यदि गुणों की तरफ देखते तो भीलनी ने तो अपराध किया था, तुम्हें अपने जूठे बेर चखाये थे—

अच्छे मीठे चाख-चाख, बेर लाई भीलणी ॥
ऐसी कहा आचारवती, रूप नहीं एक रती ।

नीच कुल ओछी जाति, अति ही कुचालणी ॥
जूठे फल लीन्हें राम, प्रेम की प्रतीति जाण ।
ऊँच नीच जाने नहीं, रसकी रसीलणी ॥
ऐसी कहा वेद पढ़ी, छिन में विमाण चढ़ी ।
हरि जो सूँ बाँध्यो हेत, बैकुण्ठ में भूलणी ॥
ऐसे प्रीत करे सोई, दास तरे मीरा जोइ ।
पतित पावन प्रभु, गोकुल अहीरणी ॥

इन सभी भगवान् के गुणों के माहात्म्य को कथन करके मीरा प्रार्थना करती है, प्रभो ! मुझमें तो ऐसा कोई गुण नहीं कि आप मुझे गुण के कारण अपना लें। अनन्त गुणों की खान तो आप ही हैं। मुझे सहारा आपकी भक्त-वत्सलता का है। अनेक उदाहरण ऐसे मिले हैं कि आप पतितों को भी प्यार करते हैं उन्हें भी अपना लेते हैं। उसी आपके विरद के सहारे मैं कृपा की भीख माँगती हूँ। इस पर भी जोर नहीं देती, आग्रह नहीं करती मेरी तो विनती है।

'मीरा की अरजी सुन लो, चरण लगाओ थारी मरजी।'

प्रेम में पुनरुक्ति दोष नहीं होता। दूसरे शब्दों में कहना चाहिये कि प्रेम में निरन्तर पुनरुक्ति ही होती है। जब अनेक हो तब ध्यान रखा जाता है कि यह बार-बार न आने पावे, किन्तु प्रेम तो एक चीज है। बात एक ही कहनी है बार-बार कहो, घुमाकर कहो, सीधे से कहो। बात एक ही है। जैसे बार-बार साँस लेने में पुनरुक्ति दोष नहीं, मीठी चीज को बार-बार खाना जैसे अनावश्यक नहीं मानते वैसे ही आसक्ति में एक ही बात कही जाती है। क्योंकि वह कहने वाला तो विरही है, दुखी है, उसे इस बात का स्मरण कहाँ रहता है कि इस

बात को मैं अभी कह चुका हूँ। वह तो फिर उसे ही कहता है।

आरत के चित रहत न चेतू, पुनि-पुनि कहे आपनो हेतू।

पुराण में क्या है, उन्हीं भगवत् गुणों की पुनरुक्ति है। बहुत-सी कथायें सभी पुराणों में हैं। एक ही भगवान् व्यासदेव के बनाये हुए पुराणों में वे कथायें हेर-फेर कर रख दी गयी हैं। वे ही सब महाभारत में भी हैं। और लावें भी कहाँ से। वे तो नित्य नूतन हैं। परितृप्त तो इस मार्ग में भारी दोष है। भगवत् गुणों में यह कभी न कहना चाहिये कि इन कथाओं को तो हम कई बार सुन चुके हैं, अब बार-बार क्या सुनें। नहीं ये हमारे अन्तःकरण की खुराक हैं। आप रोज पानी पीते हैं, गर्मी में कह दें कि इतना तो पानी पी चुके हैं अब बार-बार क्या पीवें कण्ठ तो सूखने लगेगा, बेचैनी बढ़ने लगेगी। इसी तरह भक्त एक क्षण भी भगवन्नाम और भगवत् माहात्म्य सुने अथवा कहे बिना नहीं रह सकते। उन्हें एक ही नाम प्रतिक्षण दुहराने में एक नूतनता का आभास होता है। एक ही भगवत् सम्बन्धी लीला का कथन करते-करते वे तृप्त नहीं होते। फिर-फिर के उसे कहते हैं। इसी प्रकार मीरा ने अनेक बार दुहरा-दुहराकर उन्हीं अशरण-शरण प्रभु की उन लीलाओं का वर्णन किया है जिनमें उन्होंने पतितों को उद्धारा है। अभी जो बात कही थी, अभी जो उदाहरण देकर सरकार के सामने विनती की थी, फिर उसे ही दुहराकर कहती है—

सुण लीजे बिनती मोरी, मैं शरण गही प्रभु तोरी ॥१॥
तुम तो पतित अनेक उधारे, भवसागर से तारे ॥२॥
मैं सबका तो नाम न जानूँ, कोई-कोई नाम उचारे ॥३॥

अम्बरीष सुदामा नामा, तुम पहुँचाये निज धामा ॥४॥
ध्रुव जो पाँच वर्षके बालक, तुम दरश दिये घनश्यामा ॥५॥
धना भक्त का खेत जमाया, कबिरा का बैल चराया ॥६॥
शबरी का जूठा फल खाया, तुम काज किये मन भाया ॥७॥
सदना औ सेना नाई को, तुम लीन्हा अपनाई ॥८॥
करमा की खिचड़ी खाई, तुम गणिका पार लगाई ॥९॥
मीरा प्रभु तुमरे रँग राती, या जानत सब दुनियाई ॥१०॥

मीरा भगवान् से विनय करती है, उनका विरद बताती है, उनकी कृपापूर्ण घटनाओं की स्मृति दिलाती है और अपनी दीनता दिखाकर प्रार्थना करती है। यह तो अपने स्वामी के प्रति कर्तव्य हुआ। जब देखती है कि मन मानता ही नहीं, वह नटखट बहुत मना करने पर भी संसारी विषयों का चिन्तन करता है, भगवत् गुण माहात्म्य में टिकता ही नहीं। जब मीरा मन को समझाती हुई उसे भगवान् के अनन्त गुणों का माहात्म्य सुनाती है, उस हठीले शिष्य को पाठ पढ़ाती है। वह कहती है—

भज रे मन गोपाल गुना।

अधम तरे अधिकार भजन सूँ, जोइ आये हरि सरना।
अबिश्वास तो साखि बताऊँ, अजामिल गणिका सदना ॥१॥
जो कृपालु तन मन धन दीन्हों, नैन नासिका मुख रसना।
जाको रचत मास दस लागे, ताहि न सुमिरत एक छिना ॥२॥
बालापन सब खेल गँवायो, तरुण भयो जब रूप घना।
वृद्ध भयो जब आलस उपज्यो, माया मोह भयो मगना ॥३॥
गज और गीधहु तरे भजनसूँ, कोउ तर्‌यो नहिं भजन बिना।
धना भगत पापी पुनि सबरी, मीरा की हूँ करो गणना ॥४॥

मन को समझाकर मीरा कहती है, अरे ये सब भजन के प्रभाव से ही तो तर गये। ऐसे दयालु प्रभु को छोड़कर विषयों के कीचड़ में फँसेगा तो लख चौरासी योनियों में भटकता फिरेगा। उस नन्दनन्दन के कमल रूपी चरणों की धूलि का आश्रय ले ले तो इस अथाह भवसागर में कभी भी न डूबेगा। क्योंकि कमल तो सदा जल में ही रहता है, उसकी पराग तक जल पहुँचता ही नहीं। जल में रहते हुए भी उस कमल धूलि के कण निर्लिप्त हैं।

मीरा की प्रेम साधना बड़ी ही ऊँची है। वह अपने प्यारे गिरिधर लाल के रँग में तो अनादि काल से ही रँगी थी, उसे तो कोई साधन करना शेष ही नहीं था, केवल श्री जी की आज्ञा शिरोधार्य करके वह इस दुःख पूर्ण संसार को अनन्त सुख का दिग्दर्शन कराने को ही प्रकट हुई थी। उसने प्रेम, विनय, भक्ति का सजीव चित्र संसार के सामने उपस्थित कर दिया। उसकी गिरिधरलाल में गुण माहात्म्यासक्ति अद्वितीय है। वह अपने ही मन को नहीं सबको लक्ष्य करके निरन्तर पगली की तरह रोती-रोती वीणा की झंकार में अपना स्वर मिलाकर गाया करती थी—

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग शीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीणे, राखी अपनी सरण॥
जिण चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नख सिखि सिरि भरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीणी, तरी गौतम घरण।
जिण चरण कालीनाग नाथ्यो गोपलीला करण॥
जिण चरण धार्‌यो गोवरधन, गरब मघवा हरण।
दासि मीरा लाल गिरिधर, अगम तारण तरण॥

मीरा की रूपासक्ति

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्यरूपम् ।
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ॥
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥*

ब्रज के प्रायः सभी रसिक भक्त कवियों ने उस ब्रज विहारी की रूप-माधुरी का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। जो सुख उन्हें उस नव ब्रजचन्द के नख शिख वर्णन में आता है, उसकी तुलना करना या कथन करना मानवीय शक्ति के बाहर की बात है। एक अंग के वर्णन में उन भावुक कवियों ने कमाल कर दिया है। उन्होंने तो सौन्दर्यराशि का प्रत्यक्ष दर्शन किया ही होगा, किन्तु हम साधारण प्राणी जब उनकी उस प्रेम भरी वाणी को पढ़ने लगते हैं तो हमारे सामने वह मनमोहनी मूरति नाचने लगती है और जी चाहता है कि यह मदमाती मूरति कहीं मिल

---

* पता नही इन ब्रज-ललनाओ ने पूर्वजन्म में कौन से पुण्यप्रद कर्म किये है कि जो सुन्दरता की राशि है, जहाँ पर सौन्दर्य की परि-समाप्ति है और जो सौन्दर्य के सार है, जो स्वयं सिद्ध यश, श्री और ऐश्वर्य के एकमात्र आलय है, जिनके दर्शन अपुण्यवानों को हो ही नही सकते और जिनका सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीन ही होता जाता है अर्थात् बढ़ता ही जाता है, उन यशोदानन्दन की रूप-माधुरी को वे अपने नेत्र रूपी अञ्जलिपुटों में भरकर परम आसक्ति के साथ अतृप्त भाव से पीती ही रहती हैं।

जाय तो इसे बिना सङ्कोच के छाती से चिपका लें और इस तरह कसकर अपने बाहुपाश में बाँध लें कि फिर भागने न पावे ।

इन सभी कवियों में रसखानजी ने तो रूप-माधुरी के वर्णन में इति कर दी है। इनके सामने सुन्दर सजीव वर्णन कोई कर सकेगा, ऐसा अनुमान करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। वह बूढ़ा मुसलमान मस्त होकर, दोनों हाथ फैलाकर अपनी सुरीली तान से एक करील को कुञ्ज में देखिये सामने क्या गा रहा है—

नैन लख्यो जब कुञ्जनि ते बनिकै निकस्यो मटक्यो मटक्यो री।
सोहत कैसो हरा टटको सिर तैसे किरीट लसै लटक्यो री॥
को रसखान रहे अटक्यो हटक्यो ब्रजलोग फिरै भटक्यो री।
रूप अनूपम वा नटको हिय रे अटक्यो अटक्यो अटक्यो री॥

सचमुच में उस नट का रूप है ही ऐसा। जहाँ वह अटक जाता है, फिर अटका ही रहता है, वह टेढ़ा है घुस तो आसानी से जाता है, फिर निकलता नहीं और भीतर-ही-भीतर धँसता जाता है रसखान अपनी सखी से कहलाते हैं—

सोहत है चँदवा सिर मोरके तैसिये सुन्दर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल विराजत तैसी हिये बनमाल लसी है॥
रसखानि विलोकत वौरीभई दृगमूँदके ग्वाल पुकारि हँसी है।
खोलरी घूँघट खोलो कहाँ वह मूरति नैनन माँझ बसी है॥

यह उस रूप-माधुरी की विशेषता है। जहाँ मूर्ति मन में समानो नहीं कि रग-रग में वह विँध जाती है।

मोहन मूरति श्यामकी, मो मन रही समाय।
ज्यों मेंहदी के पात में, लाली लखी न जाय॥

मन किसी सच्चे रूप को पकड़ ले, बस फिर उसके लिये संसार विलीन हो जाता है, फिर तो—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी है गयी लाल॥

फिर तो जिधर देखता हूँ उधर तू-ही-तू है। मन में गढ़ना चाहिये। चोट लगकर एक मीठी-सी कसक पैदा हो जाय फिर तो वह कसक बढ़ती ही जाती है बस, फिर तो 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'। मन किसी को पकड़ भर ले। बस, देरी है तो पकड़ने की। इसमें इन्द्रिय सुखों की वासना न हो, फिर कोई भी रूप हो उसमें जड़, चेतन, आकृति, प्रकृति, चल, अचल, सगुण, निर्गुण का तो सवाल ही नहीं। आसक्ति चाहिये। जो क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है, उसमें की आसक्ति भी अस्थायी है, चिरकाल तक मिटने वाली नहीं है, क्योंकि तुम जिस रूप पर आसक्त होकर उसे अपनाते हो, वह तो प्रतिक्षण बदलता रहता है, फिर तुम्हारी आसक्ति क्यों न बदलेगी। चलती हुई गाड़ी पर चढ़ोगे तो पेड़, पत्ते, रास्ता, जमीन बदलती ही चलेगी। किन्तु उन घनश्याम के रूप में जो आसक्ति है, वह छूटने वाली नहीं वह तो दिन दूनी, रात्रि चौगुनी बढ़ती ही जायगी और अन्तकाल तक बढ़ती ही रहेगी। मीरा की उन गिरिधर लाल के रूप में ऐसी ही आसक्ति थी। वह उस नन्दनन्दन के रूप में इतनी पगली हो गयी थी कि उसने लोकलाज, कुलकानि किसी की भी परवाह नहीं की। उसने निशङ्क होकर ताल, स्वर और लय को एक करके नाचते-नाचते गाया—

जब से मोइ नन्द नन्दन दृष्टि पड़्यो माई।
तब से परलोक लोक कछु न सोहाई॥

मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरोवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि तिलक भाल चितवन में टोना।
खञ्जन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विशेखा॥
अधर बिम्ब अरुन नैन, मधुर मन्द हाँसी।
दसन दमक दामिड़ दुति चमकै चपलासी॥
क्षुद्र घंटिका सुकिंकनी, अनूप धुनि सोहाई।
गिरिधर के अंग अंग मीरा बलि जाई॥

अहा! सचमुच में ये अङ्ग-प्रत्यङ्ग बलि जाने योग्य ही हैं। बाई मीरे! तुमने बलि जाने को अच्छा सुकुमार मनोहर वर चुना। ऐसी माधुरी पर भी बलि न जाकर इन तुच्छ विषयों की प्राप्ति के पीछे जो पागल हैं अब उनके लिये हम क्या कहें। हम भी तो उन्हीं में हैं देवि!

रूप का वर्णन दो प्रकार से होता है--एक नख से शिख तक, दूसरा शिख से नख तक। प्रायः देखा गया है कि जहाँ भाव भक्ति साधन का प्रसङ्ग है वहाँ नख से ही आरम्भ करके शिख तक ले जाते हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान् कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति को इसी प्रकार का ध्यान बताया है, उन्होंने "संचिन्तयेत भगवतश्चरणारविन्दन्" कहकर दोनों चरणों का, जानु, उरु, नितम्ब, नाभि, स्तनद्वय, वक्षःस्थल, कंठ, चतुर्भुजाओं तथा आयुधों का फिर बदनारविन्द के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन करके 'हासं हरे रवनताखिल लोकतीव्र, कहकर

भगवान् की मन्द मुस्कान पर समाप्ति की है। गोस्वामी तुलसीदासजी, सूरदास आदि महाभागवत विश्व कवियों ने भगवान् के नखसिख का वर्णन किया है, किन्तु जहाँ प्रेम का प्रसङ्ग आता है, वहाँ प्रायः सभी श्रीमुख से ही शुरू करते हैं और बस, अधिक-से-अधिक कण्ठ तक लाते हैं, क्योंकि परम प्रेमास्पद, उन कृष्ण की जो कि हठात् अपनी ओर खींचती हैं, बाँकी चितवन ही तो है। इसी से तो उनका नाम कृष्ण पड़ा है। इसलिये प्रेमी कवि सभी उस रसीली, कटीली, नुकीली चितवन पर टूट पड़ते हैं। रसखान की सखी कहती—

"भौंह कमान सु जोहन को सर बेधत प्राणन नन्द को छौना।"

दूसरी सखी कहती है—

"पै सजनी ना सम्हार परै वह बाँकी बिलोकन कोर कटाछैं।"

सबसे अधिक परिचय मुख से ही होता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को तो कोई परम प्रेमी ही पहचानता है। मुख देखकर तो सभी पहचान लेते हैं। सूरत तो मुख पर नाचा करती है। सूरत से आदमी जाना जाता है, मन उस सूरत में बस जाय, नैनों में वही मूर्ति नाचती रहे, चित्त में वही सूरत चढ़ जाय, बस यही रूपासक्ति है। मीरा कहती हैं—

मेरो मन बसि गो गिरधर लाल सों॥
मोर मुकुट पीताम्बर हो गल बैजन्ती माल।
गउवन के सँग डोलत हो जसुमनि को लाल॥१॥
कालिन्दी के तीर हो कान्ह गउवाँ चराय।
सीतल कदम की छहियाँ हो मुरली बजाय॥२॥
जसुमति के दुलरवाँ ग्वालिन सब जाय।
बरजहु आपन दुलरुआ हमसो अरुझाय॥३॥

वृन्दावन क्रीड़ा करै गोपिन के साथ।
सुर नर मुनि सब मोहे हो ठाकुर जदुनाथ ॥४॥
इन्द्र कोप बन बरखो हो मूसल जलधार।
बूड़त वृज को राखेउ मोर प्रान-आधार ॥५॥
मीरा के प्रभु गिरिधर हो सुनिये चित लाय।
तुम्हरे दरश की भूखी हो मोहँ कछु न सोहाय ॥६॥

सचमुच घर-द्वार न सुहाने की बात ही है। घर द्वार बाल-बच्चे हमें इसीलिये प्यारे लगते हैं कि उनसे हमारा मन प्रसन्न होता है। जब मन अपना रहा ही नहीं, उसमें किसी दूसरे ने आकर अधिकार जमा लिया, तब फिर कोई क्यों सुहाने लगा।

मीरा की रूपासक्ति बड़ी ही गम्भीर है। बालकपन में ही वह गिरिधर लाल की मनोहर मूर्ति को देखकर उस पर आसक्त हो गई और ऐसी आसक्त हो गई कि अपना बनाकर ही मानी। जब तक वह मिली नहीं तब तक न अन्न छुआ, न पानी पिया। वह मतवाली अपने भोले-भाले मन को किसी टेढ़े-मेढ़े काले और निर्मोही बालमा को सौंप चुकी। सौंपकर वह पछितायी भी।

जो मैं ऐसा जाणती प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती प्रीत करो मत कोय ॥

किन्तु 'अब पछिताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत' मन पर दूसरे का कब्जा हो गया। वह भुलाया नहीं जाता। मरना तो उसी सूरत पर मरना, जीना तो भी उसी की याद करते-करते तड़पते रहना। इसीलिये उनके रूप पर रीझकर उसने गाया है—

म्हारो जनम मरण को साथी, नहिँ विसरूँ दिन-राती ॥
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, जानत मेरी छाती ।
ऊँची चढ़चढ़ पन्थ निहारूँ, रोय रोय अखियाँ राती ॥१॥
यो संसार सकल जग झूँठा झूँठा कुलरा नाती ।
दोऊ कर जोड़्या अरज करत हूँ, सुन लीजो मेरी बाती ॥२॥
यों मन मेरो बड़ो हरामी, ज्यूँ मदमाती हाथी ।
सतगुरु हाथ धर्‌यो सिर ऊपर, अंकुश दे समझाती ॥३॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, हँसि चरणा चित राती ।
पल पल तेरो रूप निहारूँ, निरखि निरखि सुख पाती ॥४॥

मीरा की पूजासक्ति

अहं हरे तव पादैकमूलं दासानुदासो भविताऽस्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥*

प्रियतम को जिस तरह सुख सुविधा पहुँचे उन-उन कर्मों को करते रहने का नाम ही पूजा है। पूजा में अपने शरीर-सुख की परवाह नहीं। अपनी परम प्रसन्नता तो इसी में है कि पूजनीय को सुख मिले। पूजा के विविध प्रकार हैं—पञ्चोप्रचार, षोडशोपचार। पूजायें विहित और विधियुक्त हैं। असली पूजा तो यह है कि प्रतिक्षण प्रियतम का मुख जोहा करें। प्रियतम पलँग पर पौढ़े हैं, अहा, कैसी सुन्दर बाँकी छटा है मानों नीले जल के प्रतिबिम्ब में शान्त पूर्ण चन्द्रमा स्तब्ध हुआ सो रहा हो, दो मुँदे हुए, कमलनयन उसके ऊपर सुशोभित हो रहे हों, सुन्दर भौंहें मुँदे हुए भौंर के पग हों प्यारे ने अँगड़ाई ली रोम-रोम खिल उठे। अरबरा कर अर्धोन्मीलित नेत्रों से प्रिय साजन आधे पलँग से उठे। हाथ का सहारा देकर उन्हें उठा लिया। नित्य क्रिया का सभी सामान जुटा दिया। सुकोमल श्रीअङ्गों में हल्के हाथों से उबटन लगाया। धीरे-धीरे मालिश की और

---

* हे हरे ! मै तुम्हारे चरणों के आश्रय रखने वालों दासों का भी दास पुनः-पुनः होता रहूँ। मेरा मन मधुप हे प्राणेश्वर ! तुम्हारे पाद-पद्मो में गुञ्जार करता रहे। वाणी से तुम्हारे जगन्मङ्गल नामों का उच्चारण होता रहे और मेरे शरीर से तुम्हारी पूजा सम्बन्धी ही कर्म होते रहें।

फिर उन्हें शुद्ध सुगन्धित जल से स्नान कराया। गर्मी में शीतल जल से खूब स्नान कराया और जाड़े में थोड़े गुनगुने जल से। श्री अङ्ग पर जो जल-कण हैं, उन्हें सुन्दर साफ प्रोक्षण से पोंछा। उन्हें सिंहासन पर पधरा दिया। फिर विविध प्रकार के रुचि के अनुसार रुचिर व्यञ्जन बनाये। षटरसों से युक्त सुन्दर से भी सुन्दर जितने बना सकते थे सभी बनाये। सामने सजा सजाया थाल रखा, प्रियतम जीमने लगे, अपने आप पंखा लेकर धीरे-धीरे उनकी हवा कर रहे हैं। जो व्यञ्जन रुचिकर हो उसे बार-बार आग्रहपूर्वक देना। भोजनोपरान्त कुल्ला कराके सुन्दर स्वादिष्ट बीड़ा मुख शुद्धि के लिये समर्पित करना। पुनः आराम करने को पलङ्ग पर पौढ़ा देना। शनैः-शनैः चरणों को चाँपते हुए उनसे मीठी-मीठी प्रेययुक्त वाणी कहना। उनके मनोभावों को समझकर बड़ी सावधानी से सेवा करना। इसी तरह जागने से सोने पर्यन्त जो भी उनके सुखकर कार्य हों, उन्हीं में तल्लीन रहने का नाम यथार्थ सेवा है।

सेवा में भावना तो अपनी रहती है अर्थात् जो अपने को अत्यन्त प्रिय प्रतीत हो उसे ही श्रद्धा सहित सेव्य की सेवा में समर्पित करना, किन्तु अपने को सुख उनकी प्रसन्नता में ही है यदि नरक जाकर भी प्रियतम को सुख पहुँचा सकें। तो उस नरक को स्वर्ग और ब्रह्मलोक से भी बढ़कर मानना। एक कथा है—भगवान् की पटरानियों ने जिज्ञासा की कि प्रभो! आप गोपियों के प्रेम की बड़ी प्रशंसा करते हैं, उनमें ऐसी कौन-सी विशेषता है, जिसे हम नहीं कर सकती। उस समय तो प्रभु ने बात टाल दी थी। कुछ दिनों पश्चात् उनके श्रीअङ्ग में पीड़ा हुई। भाँति-भाँति के उपचार हुए सब

व्यर्थ। तब भगवान ने स्वयं कहा—"एक उपचार से यह पीड़ा मिट सकती है, यदि सब रानियाँ अपनी चरण धूलि दें और उसे मैं चाटूँ और शरीर पर लगाऊँ तो यह पीड़ा न रहेगी।" पटरानियों से कहा गया। उन्होंने कहा—"भला यह भी कभी हो सकता है हमें तो नरक में भी स्थान न मिलेगा महाराज! यह अनहोनी बात न कहो, उल्टी गङ्गा मत बहाओ।" भगवान् ने उद्धव से कहा—"भाई! यहाँ तो औषधि मिलती नहीं। तुम ब्रज में जाकर गोपियों से भी तो पूछ आओ, देखें वे क्या कहती हैं।" उद्धव गये सब वृत्तान्त सुनाया। सुनकर गोपियों ने कहा—"हाँ, यह बात है? हमारी चरण धूलि से उन श्यामसुन्दर को सुख मिलेगा? तो उद्धवजी! जितनी गाड़ियों की जरूरत हो भर ले जाओ। कहो तो चरणामृत भी दे दें। हमें नरक, स्वर्ग, लोकलाज की परवाह नहीं। वे चित्तचोर सुखी हों चरणधूलि कि तो कोई बात ही नहीं। यह सच्ची सेवा का एक आदर्श है। प्यारे को जिसमें प्रसन्नता हो वही धर्म है, वही कर्तव्य है। जिस रूप से रीझे वही रूप बनाना यही सेवक का धर्म है।

मीरा ने अपना सर्वस्व गिरिधरलालजी पर वार दिया था। उसके जितने भी काम होते थे, सबसे उन साँवरे की सेवा ही होती थी। सेवा को छोड़कर उसे दूसरा काम ही नहीं था। भगवत्-सेवा और उनके भक्तों की सेवा, यही संसार में कार्य है। जो भी कार्य हों वे भगवत् सम्बन्धी हों, श्रीमद्भागवत में नलकूबर मणिग्रीव ने बालकृष्ण श्रीनन्दनन्दन से यही तो प्रार्थना की है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यांशिरस्तव निवास जगत् प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनां॥

हे प्रभो! हमारी वाणी एकमात्र तुम्हारे गुणों के कथन में ही काम आवे, कर्ण सदा तुम्हारी कमनीय कथाओं का ही श्रवण करते रहें, हाथ तुम्हारे मन्दिर की झारू-बुहारू तथा पूजा में ही सदा लगे रहें हमारा मन मधुप सदा तुम्हारे चरणारविन्दों का चिन्तन करता रहे, सिर सदा तुम्हारे स्वरूप सम्पूर्ण जगत् को निरन्तर प्रणाम ही करता रहे, किसी के सामने भी अहङ्कार से ऊँचा न उठे, सबके सामने नत होता रहे और दृष्टि तुम्हारे श्रीविग्रह के दर्शनों में या तुम्हारे भक्त साधु-सन्तों के दर्शनों में ही लगी रहे, इनको छोड़कर और किसी की ओर दृष्टि भी न उठे। 'बावरी वै अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो को छाँड़ि निहारति गोरो।' बस, वही भक्ति है। मीरा का जीवन इसी साँचे में ढला था। वह वाणी से सदा गाती रहती थी 'मन रे परसि हरि के चरण' 'माई मैंने गोबिन्द लीन्हों मोल।' कानों से वह साधु मण्डली में बैठकर गिरिधर लाल की कथाओं को ही सुनती रहती है। अपने ही हाथों से वह मन्दिर को बुहारती। गिरिधर लालजी की पूजा करती उनके लिये पुष्प चुनती, हार बनाती और उन्हें भाँति-भाँति के भोग अर्पण करती। मन को वह सदा समझाती रहती और फिर अपने प्यारे के सामने गाती भी थी।

'मेरे मन राम नाम बसी, मेरो मन रामहि राम रटैरे, 'मेरो मन बसिगो गिरिधर लाल सों' मेरा मन लागो हरि जू सूँ' 'मेरो मन हरि सो जोर्‍यो' वह किसी को भी अपने साँवरे के अतिरिक्त नहीं समझती थी। वह सच्ची पतिव्रता थी। अतः साफ कह देती थी कि दूसरे की आशा करना मेरे व्रत के विरुद्ध है। अतः उसके लिये संसार में एक ही पुरुष था

वह गिरिधर लाल और उन्हें वह प्रतिपल प्रणाम करती थी। दर्शन तो वह साधु और अपने प्राणनाथ के सिवा किसी के करती ही न थी, वह साफ कहती थी, 'साधु मात-पिता कुल मेरे सजन सनेही ज्ञानी। संत चरन की सरन रैन-दिन सत्त कहत हूँ बानी।' साधु तो माई बाप हमारे सखियाँ क्यों बबड़ात॥' 'साधु संगत में दिल राजी भई कुटुम्ब सूँ न्यारो' या वह कहती थी 'मन लागो रमताँ सूँ।'

प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक उसे पूजा से ही अवकाश नहीं मिलता। यही उसका अष्ट प्रहर व्यवहार था। प्रातःकाल हुआ, उसने अपने वीणा विनिन्दित स्वर में गाना आरम्भ किया—

जागो म्हारा जगपति राइक हँसि बोलो क्यूँ नहीं।
हरि छो जी हिरद माँहि पट खोलो क्यूँ नहीं॥
तन मन सूरति सँजाइ, सीस चरण धरूँ।
जहाँ-जहाँ देखूँ म्हारो राम जहाँ सेवा करूँ॥
सदकैं करूँ जी सरीर, चुग जुग वारणौं।
छोड़ी-छोड़ी कुल की नाल, साहब तेरे कारणौं॥
थोड़ी-थोड़ी लिखूँ सिलाम बहोत करि जाणज्यौं।
बन्दी हूँ खाना जाद महरि करि मानज्यौं॥
हाँ हो म्हारा नाथ सुनाथ विमन नहिँ कीजियै।
मीरा चरणा की दासि दरस अब दीजियै॥

प्रेम में एक बड़ी विचित्रता है कि चाहना तो कुछ नहीं सदा डरते ही रहना कि ऐसा न हो, मेरी सेवा से स्वामी असंतुष्ट हो जायँ। सेवा के साथ में मीठा-मीठा भय बना रहे तो वह कितनी मधुर, कितनी नमकीन बन जाती है। सेवा करना कोई सहज काम थोड़ी है। स्वामी के मन को सदा जुगवता रहे कि कब

स्वामी की क्या इच्छा होती है तभी तो कहा 'सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः' उस सेवा को मीरा करती थी। दोपहर हो गया। सभी प्रकार के व्यञ्जन तैयार हैं। दासी मीरा खड़ी अरज कर रही है—

तुम जीमो गिरधर लालजी।
मीरा दासी अरज करै छै, सुनिये परम दयालजी।
छप्पन भोग छतीसो बीजन, पावो जन प्रतिपालजी॥
राज भोग आरोगो गिरिधर सनमुख राख्यो थालजी।
मीरा दासी चरण उपासी, कीजे बेग निहालजी॥

मीरा की पूजा में इतनी अधिक आसक्ति थी कि वह अपने स्वामी को आँखों से ओझल देखना नहीं चाहती थी, बस, यही कि तुम हमें देखा करो और हम तुम्हें देखा करें। यदि इतना न भी करो तो इतना तो जरूर हो कि तुम हमें देखो न देखो हम तुम्हें देखा करें। वह दूसरों पर भरोसा नहीं रखती कि किसी और के द्वारा स्वामी की ठीक-ठीक सेवा हो सकेगी या नहीं। इसीलिये वह चाहती थी कि जो कुछ भी करना हो, अपने हृदयेश्वर को सामने बिठाकर हो। इसीलिये तो वह व्याकुलता के साथ गाती है—

मैं तो म्हारा रमैया न देखा करूँरी।
तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरूँरी॥
जहाँ जहाँ पाँव धरू धरणी पर तहाँ-तहाँ निरत करूँरी।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर चरणा लिपट परूँरी॥

———

मीरा की स्मरणाशक्ति

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः ।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृति ॥*

मन एक है, आकाश एक है, शब्द एक है, ईश्वर एक है, आत्मा एक है। द्वैत की तो कोई बात ही नहीं। सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान ही पड़ता है, यदि उसके बीच में बादल, दीवाल या और किसी चीज का अन्तराय न हो तो एक जगह आप कोई बात कहें, वह सर्वत्र आकाश मण्डल में छा जायगी। आप जिसका स्मरण करते हैं, जिसकी चिन्ता करते हैं वह हठात् आपकी ओर आकर्षित हो जायगा, यदि बीच में विषय वासनाओं का पर्दा न हो तो हम अपने मन में किसी बुरी-बुरी बातों का चिन्तन करें तो हमारे मन में तो बुराइयाँ आ ही जायँगी। उसके मन में भी हमारे प्रति बुरे भाव उठेंगे, चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न बैठा हो।

इसी प्रकार जब हम किसी के प्रति अपने मन में प्रेम भाव बनाये रखेंगे, उसे सदा स्नेह से स्मरण करेंगे तो उसके मन में भी हमारे प्रति प्रेम प्रकट होगा और वह हमें दूर बैठा हुआ भी

* हमें कोई रोग हो, दूसरे पुरुष क्लेश पहुँचावें यातनाये दें, यह दु:ख असल में दु:ख नहीं हैं और खूब धन हो, सुन्दर सुयोग्य आज्ञाकारी स्त्री, पुत्र हो, सर्वत्र मान प्रतिष्ठा हो यह सुख भी यथार्थ सुख नही है। यथार्थ में भगवान् की स्मृति बनी रहे यही सुख है और जिस समय उनका विस्मरण हो जाय वही सबसे बड़ा दुख है।

प्रेमपूर्वक याद करता रहेगा। जिस भाव से स्मरण कीजिये, आपको उसी भाव में तन्मयता हो जायगी। विषयी विषयों के भावों में तन्मय हो जाता है, प्रेमी प्रेम के भावों में। इसमें स्मरण करने वाले की भावना प्रधान है। भगवान् के स्मरण में यह बात नहीं। आप उन्हें द्वेष से, काम से, लोभ से, कैसे भी स्मरण कीजिये, भगवान् आपको अपना लेंगे। इसीलिये कहा है 'क्रोधोऽपि देवस्यवरेणतुल्य' अर्थात् श्रीहरि का क्रोध भी वरदान के ही तुल्य है। भावनानुसार वे भी अपनाते हैं। उनमें स्वतः तो काम, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या है नहीं, किन्तु शिशुपाल, कंस उनका चिंतन द्वेष तथा भय से करते थे, 'चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत्' इसीलिये भगवान् ने भी द्वेषियों के लिये द्वेष के रूप से और भयभीतों को भय के रूप से मुक्ति दी। भगवान् से कोई भी सम्बन्ध जोड़ लीजिये चाहे शत्रु का, मित्र का, दास का, सखा का, भगवान् का अथवा पति का, बस, फिर वे अपना ही बना लेंगे। कैसे भी उनका सतत् स्मरण करो। किसी भाव से सही, स्मरण सतत् होना चाहिये।

सतत् स्मरण के साथ वह स्मरण अनन्य भी होना चाहिये। यह हृदय की कोठरी इतनी छोटी है कि इसमें दो एक साथ रह नहीं सकते, जहाँ राम तहाँ काम नहीं, जहाँ काम नहिँ राम।' बस, वही अपना सर्वस्व है, यदि उसमें पुत्र भाव है तो बस वही पुत्र है और कोई नहीं। यदि मित्र भाव है तो वही अपना सच्चा मित्र है बाकी सब ज ा जंजाल है। स्मरण की सिद्धि अनन्यता के ही ऊपर निर्भर है। स्मरण में जितनी ही अनन्यता होगी, उतनी अन्यों की अपेक्षा कम होती जायगी, उतनी ही तन्मयता बढ़ती जायगी। मीरा के स्मरण में अनन्यता थी, वह बार-बार कहती—'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई।'

अपने इष्ट की पुनः-पुनः आवृत्ति करने का ही नाम स्मरण है। जब तक वह याद न हो जाय, रोम-रोम में रम न जाय, तब तक बराबर स्मृति बनी ही रहनी चाहिये। जब वह रग-रग में बिंध गया, परमाणु-परमाणु में एकतानता स्थापित करली, तब फिर स्मरण कौन करे और किसका करे, साँभर की झील में नमक की डली तभी तक बराबर थाह लेने को घुसती जायगी जब तक उसका अपना अलग-अलग अस्तित्व है, जब उसके कण उसी में एक हो गये तो कौन थाह ले और कौन ऊपर आकर बतावे। स्मरण ही हमें स्मरणीय के स्वरूप में मिला देता है। जहाँ एक बार स्मरण का चस्का लग गया, वहाँ फिर और कुछ सूझता ही नहीं। मीराबाई का स्मरण ऐसा ही था। राम-नाम स्मरण के बल पर ही वह जहर को अमृत करके पी गई। उसने गाया है—

यों तो रङ्ग धतां लग्यो ए माय।

पिया पियाला अमर रसना, चढ़ गई घूम घूमाय।
यो तो अमल म्हारो कबहूँ न उतरै, कोटिन करो उपाय ॥१॥
साँप पिटारो राणा जी भेज्यो, घो मेड़ताजी गल डार।
हँस हँस मीरा कण्ठ लगायो, तो म्हारो नौरस हार ॥२॥
बिष को प्यालो राणा जी भेज्यो, घो मेड़तणी ने प्याय।
कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोबिन्दरा गाय ॥३॥
पिया पियाला नाम का रे, और न रङ्ग सुहाय।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, काचो रङ्ग उड़ जाय ॥४॥

असल में नाम स्मरण में दृढ़ता ही मुख्य वस्तु है। राम नाम स्मरण करने वाले को सन्देह और भय का क्या काम। 'राम नाम जपतां कुतो भयम्'। सन्देह हमें तभी तक है जब

तक कि हमें इन संसारी पदार्थों से, संसारी वस्तुओं से आशा है, जब तक सोलहों आना प्रभु ही के नहीं हो जाते, उन्हीं पर अपना सर्वस्व समर्पित नहीं कर देते तभी तक हम दुखी भी हैं और चिन्तन भी हमारा अनन्य नहीं हो सकता। जहाँ मन ने राम-राम रटना शुरू किया तहाँ करोड़ों जन्मों के विघ्न कर्म जल कर राख हो जाते हैं।

मेरो मन रामहि राम रटै रे।
राम नाम जप लीजे प्राणी, कोटिक पाप कटैरे।
जनम-जनम के खत जु पुराने, नामहिँ लेत फटैरे॥
कनक कठोरे अमृत भरियो, पीवै कौन नटैरे।
मीरा कह प्रभु हरि अविनासी, तन मन ताहि पटैरे॥

स्मरण में सबसे आवश्यक बात है, कष्ट सहिष्णुता। कष्टों की परवाह ही न, हो प्रियतम का स्मरण बना रहे फिर चाहे शरीर कुछ भी हो जाय। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के कृपा पात्र भक्त श्री हरिदास जी को यवनों ने कोड़ों से मारते-मारते घायल कर दिया, किन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"चाहे तुम इस शरीर के टुकड़-टुकड़े क्यों न कर दो मैं हरिनाम न छोड़ूँगा।" अपने प्रियतम को पाने के लिये सभी प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ निरन्तर नाम रटता रहूँगा कभी तो वह सुनेगा ही—

राम राम रटते रहो, जब लौं घट में प्रान।
कबहूँ दीनदयालके, भनक पड़ेगी कान॥

उसके नाम की लौ लगी रहे बस, यही चाहिये। और संसारी काम बने तो वाह-वाह, न बने तो वाह-वाह। अपने राम को तो उसके रङ्ग में रङ्ग जाना है। उस निर्मोही की चेरी बनने में, उसी का नाम स्मरण करने में ही मीठा-मीठा मजा है। अब तो लगन लग गयी है, उसे पूरी उतारनी होगी। इसलिये मीरा कहती है—

राम नाम मेरे मन बसियो, रसियो राम रिझाऊ ए माय।
मैं मन्द भागण करम अभागण, कीरत कैसे गाऊँ ए माय।
बिरह पिंजर की बात सखी री, उठकर जी हुलसाऊँ ए माय।
मनकूँ मार सजू सतगुरुसूँ, दुरमत दूर गमाऊँ ए माय।
डकू नाम सुरत की डोरी, कड़ियाँ प्रेम चढ़ाऊँ ए माय।
प्रेमको ढोल बण्यो अति भारी, मगन होय गुण गाऊँ ए माय।
तन करूँ ताल मन करूँ ढपली, सोती सूरति जगाऊँ ए माय।
मो अवला पर किरपा कीज्यो, गुण गोगिन्द का गाऊँ ए माय।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, रज चरणन की पाऊँ ए माय।

सचमुच यदि स्मरण बन जाय, तार न टूटे तो चरण-कमल रज तो मिल ही जायगी। उसके लिये और अलग से प्रयत्न न करना पड़ेगा। इसीलिये तो स्मरण-निष्ठ भक्त, दर्शनों की भी परवाह नहीं करते, उनकी तो वासना है कि हमें सदा भगवत्-स्मरण बना रहे, बस यही हमारी आन्तरिक अभिलाषा है।

जैसा कि पहले बता चुके हैं, स्मरण में अन्तराय काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि शत्रु ही हैं। स्मरण में सत्संगति परम सहायक है। तभी तो मीरा कहती है 'संतन ढिँग बैठि-बैठि लोक लाज खोयी' सच्चे सन्तों के बीच में हरि-चर्चा ही निरन्तर होती रहती है और उसी से स्मरण सदा अविच्छिन्न बना रहता है। इसीलिये मीरा ने गाया है—

राम नाम रस पीजै मनुआँ, राम नाम रस पीजै।
तज कुसङ्ग सतसङ्ग बैठ नित, हरि चरचा सुन लीजै॥
काम क्रोध मद लोभ मोहकूँ, बहा चित्त से दीजै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, ताहि के रङ्ग में भीजै॥

———

मीरा की दास्यासक्ति

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलम् ।
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशः ।।
त्वत् सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम–
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ।।*

अन्तःकरण वाले सभी पुरुषों के हृदयों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव होते हैं, उन भावों की प्रेरणा से ही प्राणिमात्र व्यवहार कर रहे हैं। यह जगत् भी भावना पर ही स्थित है। इसीलिये सब के सम्बन्ध में कहा गया है 'तस्मात् भावो हि कारणम्' मनीषियों ने सभी भावों को पाँच भावों में अन्तर्भुक्त कर दिया है। वे पाँच दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर हैं। इन पाँचों में सभी भावों का सन्निवेश है। किसी से भी सम्बन्ध जोड़ना हो इनके ही अनुसार सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। सबकी इच्छा होती है, हमारे ऊपर कोई एक बड़ा हो, जिसकी प्रेम भरी मीठी घुड़की सुनने को मिले और जिसकी यथासाध्य सेवा करें। एक मन-माफिक मित्र की चाह

---

* हे आर्त्तिहर ! सुन्दरता के सागर ! हमने अपने पति पुत्रादिकों का मोह त्याग दिया है, त्यागियों के समान घर-द्वार छोड़कर एकमात्र तुम्हारी सेवा करने के लिये ही यहाँ आई हूँ। तुम्हारी मनोहर और मन्द हँसी तथा तिरछी चितवन को देख तीव्र काम से तृप्त हमारे हृदय तप रहे है, सो हे हृदय देव ! हमारे ऊपर आप प्रसन्न हूजिये और हमें अपनी दासता प्रदान कीजिये।

सभी के हृदय में उदित होती है, न मिले यह दूसरी बात है। प्यार करने को सभी का जी चाहता है। प्रेम से किसी का मुँह चूम ले, प्रेम भरी चपत लगावे और किसी से भोली-भाली प्रेम भरी क्रीड़ा करे यह सबको होती है। कभी ऐसी भी इच्छा उठती है कि चुपचाप बैठ जायँ और अपने आपे में ही मग्न रहें। अपने साथ किसी का जिस पर अपना सर्वस्व वार दें, मधुरातिमधुर सम्बन्ध हो, यह अन्तस्थल की पुकार है। पुरुषों का वह सम्बन्ध एकमात्र गुरु से ही हो सकता है और स्त्रियों का अपने प्राणनाथ पति से। विवाह उस मधुरातिमधुर सम्बन्ध को स्थापित करने की प्रथा है। और मन्त्रदीक्षा संस्कार भी एक प्रकार से विवाह ही है। शिष्य गुरु के चरणों में सर्वस्व समर्पित करके उनसे मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। ये पाँचों भाव न्यूनाधिक अंश में तो रहते ही हैं, किन्तु एक की विशेषता होने पर और भाव दब जाते हैं, उसी में अन्तर्भुक्त हो जाते। यदि ये भाव भगवान् की ओर लगें तब तो उसे भक्ति अथवा पराशक्ति कहते हैं। और संसार की ओर लगें तो मोह या विषयासक्ति कहते हैं। जिनकी यह आसक्ति सजीव प्राणियों में न लगकर रुपये-पैसे-ईंट, पत्थरों में लगती है, वे प्राणियों से प्रेम करना भूल जाते हैं, उन निर्जीव पदार्थों में ही उनका मन लगा रहता है। किसी भी भाव से किसी भी पदार्थ में आसक्ति जरूर रहेगी आसक्ति के बिना प्राणी रह नहीं सकता।

इन सब भावों में दास्य भाव प्रधान है। चाहे सख्य हो, वात्सल्य हो, शान्त अथवा मधुर हो, जब तक उसमें दास्य नहीं तब तक कुछ नहीं। दास्य एक काँच का पात्र है। ये भाव जल है, जैसा रङ्ग डालकर काँच के बर्तन में भरोगे वैसा ही रङ्ग उस पात्र का हो जायगा और तन्मय दीखने लगेगा। पात्र के बिना

जल ठहर नहीं सकता। इसलिये वात्सल्य में भी दास्य है, शान्त में भी दास्य है, और मधुर में भी दास्य है। दास्य इन सब भावों का आधार है। ये सभी भाव आधेय हैं, जो दास नहीं वह भावों का अधिकारी नहीं, उस अनधिकारी को विशुद्ध भाव प्राप्त ही नहीं हो सकते। भिन्न-भिन्न रङ्ग के मोतियों को एक में गूँथने के लिये सूत्र की आवश्यकता है और माला के भिन्न-भिन्न दानों में सूत्र समान रूप से व्याप्त रहता है, सूत्र के बिना माला का अस्तित्व ही नहीं। इसी प्रकार दासता के बिना भावों का स्थायित्व नहीं। दास्य ही सबका आधार है।

भक्ति मार्ग हो, ज्ञानमार्ग हो अथवा अन्य कोई मार्ग हो, जब तक नत होकर, प्रपन्न होकर, नम्रता, दीनता, दासता से युक्त होकर सद्‌गुरु की शरण न जाया जाय, तब तक कल्याण नहीं। स्त्रियों के गुरु उनके पति हैं, उनके ही शरण में जाने से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। पति को ही सर्वस्व मानने वाली सती साध्वी स्त्री का दरजा परमयोगी से किसी प्रकार कम नहीं। आर्य ललनायें एक को ही अपना तन, मन, अन्तःकरण समर्पित करती थीं। कैसा भी हो, जिसे एक बार आत्म समर्पण कर दिया, उसमें अवगुण कहाँ ? फिर तो वह गुणों की खान है। यों गुण-अवगुण की विवेचना करते रहे तो संसार में सर्वगुण सम्पन्न ईश्वर के सिवाय कोई भी न होगा।

पूर्वजन्मों के संस्कारों से अथवा भगवत् कृपा से इस हाड़-माँस युक्त पुरुष में यदि किसी स्त्री का पति भाव न हो, यदि कोई स्त्री नन्दनन्दन को ही अपने पति रूप से वरण कर चुकी है तो उसके लिये पति की कोई जरूरत नहीं। इससे न धर्म का व्यतिक्रम होता है और न समाज के नियम ही भङ्ग होते हैं।

यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि जिसका सम्बन्ध उन सर्वेश्वर से होगा, जिसने पतिरूप से उन पुरुषोत्तम का वरण किया होगा, उसे जाग्रत में क्या स्वप्न में कभी पौरुषीय इन्द्रिय सुख की इच्छा न होगी। इद्रिय सुखों में पतन है, च्युति है, किन्तु अच्युत के साथ के सुख में पतन की सम्भावना नहीं, वे तो स्वयं आत्माराम और योगेश्वर हैं। भाग्योदय से जिसे उन अच्युत की दासता प्राप्त हो गई वह तो त्रैलोक्यपूज्य है। किन्तु ऐसी भाग्यशालिनी महिलायें लाखों क्या करोड़ों में एक होती हैं। मीरा ऐसी ही भाग्यशालिनी थी। उसने बार-बार कहा है—"मेरी प्रीति पुरबली मैं काई करूँ।" उसे विश्वास था कि मेरे जन्म-जन्मान्तर में भी पति ये गिरिधर गुपाल थे 'मीरा कहै प्रभु गिरिधर नागर जनम, जनम की दासी रे।' उस जन्म-जन्मान्तर की दासी ने सचमुच व्रज-गोपिकाओं के प्रेम का सच्चा आदर्श उपस्थित कर दिया। दास्यभाव की पराकष्ठा मीरा के पद-पद से प्रकट होती है।

सेवक अपने तन-मन को स्वामी की सेवा में समर्पित कर देता है। उसका नियम, धर्म, पाठ, पूजा, जप, तप, तीर्थ, व्रत सभी अपने मालिक की मजदूरी बजाना है। स्वामी को सुख मिले, अपने किसी व्यवहार से स्वामी को सङ्कोच न हो यही सेवक की सदा लालसा बनी रहती है। किसी अङ्ग में खुजलाहट है, इसे बिना बताये ही जैसे हाथ समझ लेता है और उस स्थान को खुजा देता है उसी तरह स्वामी के मनोभावों को समझकर स्वतः ही सेवा में तत्पर रहना चाहिये। अपने शरीर से जो भी उपकार हो सके उसमें अपना परम सौभाग्य

समझना चाहिये यदि अपने शरीर के चाम के जूतों से स्वामी को सुख पहुँचे तो हँसते-हँसते अपने हाथ से खाल तक उतार देना चाहिये, यही सच्चे सेवक का कर्तव्य है। हम मन्द भाग्य वालों को भला ऐसी शक्ति कहाँ ? जिन्हें वे हरि ही बुद्धियोग दें उन्हीं की रुचि स्वामी की सेवा में ऐसी हो सकती है। महाभाग्यवती मीरा को ऐसी दास्यता प्राप्त थी। जहर का प्याला आया। लाने वाले ने कह दिया, तुम्हारे स्वामी के चरणों का धोवन है। दूसरे तरफ से धीरे से किसी ने कहा, नहीं जहर है जहर। मीरा मानी ही नहीं। भला स्वामी का चरण-धोवन बड़े भाग्य से मिलता है। वह मतवाली पी गई और उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ, क्योंकि वह अपने गिरिधर स्वामी की सच्ची दासी थी। उन्हीं की आज्ञा में चलने वाली थी, उनकी प्रसन्नता के लिए सब कुछ करने को तैयार थी। उसने लाज छोड़कर उच्च स्वर से गायन किया—

मैं गिरिधर के घर जाऊँ।

गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़े तब ही सो जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरू, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बिठावै तितही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ॥

'जहाँ बिठावै तितही बैठूँ, बेचै सो बिक जाऊँ' यही दास्य-भाव की पराकाष्ठा है। अपने स्वामी को सर्वस्व सौंपकर उनकी ही सेवा में तत्पर रहना ही मनुष्यों का एकमात्र कर्तव्य है। इसीलिये मैं बार-बार कहता हूँ कि हम जैसे साधारण मनुष्यों

के लिये दास्यभाव ही सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् हमारे पुत्र हैं। नन्द-यशोदा और कौशल्या दशरथ के समान ये भाव तो हम अपलज्ञ जीवों में आने के रहे। बल, सुबल, श्रीदामा की तरह हम उनके साथ मार-पीट और लड़ाई-झगड़ा कर सकें यह भाव बहुत ऊँचा है। शान्त भाव एकान्तवासी, बीतरागी, वासनाहीन मुनियों की सम्पत्ति है। मधुर भाव तो गोपिकाओं के लिये ही सुरक्षित है। पुरुषों के तो वह भाग्य में बदा ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव, हरिदास स्वामी, हित हरिवंश आदि जो इस भाव के उपासक हो गये हैं, वे अपवाद-स्वरूप हैं। इतने पर भी उन्होंने लहँगा, ओढ़नी, चूड़ी, नथ पहिर कर उसे व्यक्त नहीं किया। वह तो अनुभव की, एकान्त की, गुप्त-से-गुप्त स्थान की बात है। उसके नाम पर आज जो रहा है। सो तो भगवान् का नाम ही है, भगवान् किसी की अपने से निन्दा न करावे। दासता में जितना सुख है, यह उपासना जितनी सर्वव्यापक है उतनी दूसरी नहीं है। मीरा की भावना इस विषय में कितनी ऊँची है। उनकी अपने सच्चे स्वामी को रिझाने के लिये कैसी तन्मयता है। कैसी-कैसी आशाएँ वे बाँध रही हैं। वे यदि कुछ माँगती हैं तो यही कि 'पुरुषभूषण देहि दास्यम्' हे पुरुषोत्तम ! अपनी टहलनी बना लो। अच्छा टहलनी–दासी बनोगी तो काम क्या करोगी ? और मज-दूरी क्या लोगी ? इस सम्बन्ध में वह अपने स्वामी के सामने गाती है—

श्याम म्हाने चाकर राखोजी, गिरिधारीलाल चाकर राखोजी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरशन पासूँ।
वृन्दावन की कुञ्ज गलिन में, गोबिन्द का गुण गासूँ ॥१॥
चाकरी में दरशन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भगत जागीरी पाऊँ, तीनों बाताँ सरसी ॥२॥

मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला।
वृन्दावन में धेनु चरावै, मोहन मुरली वाला ॥३॥
ऊँचे ऊँचे, महल बनाऊँ, बिच बिच राखूँ बारी।
साँवरिया के दरशन पाऊँ, पहिर कुसूमल सारी ॥४॥
जोगी आया जोग करन कूँ, तप करने संन्यासी।
हरी भजन को साधू आये, बृन्दावन के वासी ॥५॥
मीरा के प्रभु गहर गँभीरा, हृदे रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरशन दोज्यो, प्रेम नदी के तीरा ॥६॥

चाकरी, किन्तु अपनी योग्यता तो वताओ, परिचय तो दो आखिर दासी बनने का प्रयोजन क्या है? तुम्हारी रहनी कैसी है? क्योंकि सेवक का अपराध स्वामी का समझा जाता है। सेवक का सभी प्रकार का उत्तरदायित्व स्वामी के ही ऊपर होता है, अतः स्वामी के लिये सेवक की नियुक्ति देख भाल कर साव-धानी से करनी चाहिये। बहुत से नाम के लिये भी झूठे सेवक बन जाते हैं और अपना मतलब साधकर चले जाते हैं। मीरा कहती है—'न' नाथ! मुझे ऐसी सेवा नहीं चाहिये, मैं तो सच्ची सेविका बनना चाहती हूँ।' इसीलिये उसने अपने स्वामी गिरिधर लाल जी के सामने प्रेम भरे कण्ठ से आर्त होकर यह पद गाया था और स्वयं को सेवा में नियुक्त करने की प्रार्थना की थी—

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ।
झूठे धन्धों से मेरा फन्दा छुड़ाओ ॥
लूटे ही खेत विवेक का डेरा।
बुधिबल यद्यपि करूँ बहुतेरा ॥

हाय हाय नहिँ कछु बश मेरा।
मरत हूँ बिवश प्रभु धाओ सबेरा ॥

धर्म उपदेश नित प्रति सुनती हूँ।
मन कुचाल से भी डरती हूँ ॥

सदा साधु सेवा करती हूँ।
सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ ॥

भक्ति मारग दासी को दिखाओ।
मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ ॥

मीरा की सख्यासक्ति

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा ।
यत्र द्रवत्यंतरंगः स स्नेह इति कथ्यते ॥*

सख्य भाव में दास भी है, वात्सल्य भी है और अपनापन तथा अधिकार भी है। जितने भी ये सम्बन्ध हैं, आसक्तियाँ इनके पृथक्-पृथक् भाव बिजली के काँच के समान हैं, इन सब में मुख्य वस्तु है बिजली का तार। यदि बिजली के तार का सम्बन्ध उन काँचों में है तब तो वे हरे, पीले, लाल, गुलाबी, छोटे, बड़े, टेढ़े, सीधे सभी प्रकाशित हो जायँगे, सभी जगमगाने लगेंगे, किन्तु यदि उनमें से उस तार का सम्बन्ध विच्छेद करा दिया जाय तो सब प्रकाशहीन, निर्जीव, आभाशून्य और व्यर्थ हैं। इसी प्रकार 'प्रेम' एक वह तार है, जिसे किसी भी सम्बन्ध में, किसी भाव से व्यवहृत करो उसी से उस भाव का प्रकाश है, यदि उन भावों को प्रेमहीन बना दिया जाय तो वे काठ के घोड़े के समान व्यर्थ हैं। काठ के बने घोड़े को भी तो घोड़ा कहते है, किन्तु उस पर चढ़कर कहीं जा थोड़े ही सकते हैं। वह घोड़े का काम थोड़े ही दे सकता है। सख्य भाव के मानी हैं, बराबर का प्रेम। एक दूसरे की परस्पर में प्रतिष्ठा करते हैं। एक दूसरे का हित चाहते हैं।

---

* जिसके दर्शन से, स्पर्श से, श्रवण से, भाषण से, अपने आप ही हृदय द्रवित हो जाय, पिघल जाय, उसी को विद्वानों ने स्नेह बताया है।

एक दूसरे पर प्राण निछावर करते हैं। वे परस्पर में सखा सुहृद, मित्र, प्रेमी, स्नेही या जो कुछ समझें, कहाते हैं। उनके दो नाम भी नहीं, दोनों सखा ही हैं दोनों सुहृद ही हैं। उन दोनों में छोटा कौन है, बड़ा कौन है, इसका निर्णय कोई भी नहीं कर सकता। यदि बड़े हैं तो दोनों, छोटे हैं तो दोनों। सुदामा जी श्रीकृष्ण भगवान् को बड़ा मानते थे, भगवान् उन्हे अपना बड़ा मानते थे।

प्रेम बजारू चीज नहीं है, वह तो हृदय की, एकान्त की गोपनीय वस्तु है, प्रकट अपने से भले ही हो जाय। सूर्य हाथ से छिपता नहीं, किन्तु उसका प्रदर्शन नहीं किया जाता। रसिक रसखान ने प्रेम में सने प्रिया प्रियतम के प्रेम भाव का बड़ा ही सुन्दर सजीव और सरस चित्र खींचा है। वह प्रेम द्वितीया के चन्द्र के समान बढ़ रहा था। उसका स्वभाव ही है 'प्रतिक्षण वर्धमानम्'। बात तो थी एकान्त की, किन्तु ताड़ जाते हैं ताड़ने वाले। भला पीछे लगने वालों से कोई छिपा कहाँ तक सकता है। एक सखी ने छिपकर देख लिया, वह दूसरी से कह रही है—

एरी आज कल्हि सब लोक लाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसाइयबो।
यह रसखान दिन द्वै में बात फैल जैहै,
कहाँ लौ सयानी चन्द हाथन छिपाइबो॥
आजहौं निहार्यो वीर निपट कालिन्दी तीर,
दोउन को दोउन सों मुरि मुसकायबो।
दोउ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैया उन्हैं,
भूल गई गैयाँ इन्हैं गागर उठाइबो॥

यह सरल सख्य है। इसमें परस्पर में दोनों ही ओर से प्रेम का प्राबल्य है। एक दूसरे में तनिक भी अंतर नहीं, छोटे बड़े का भाव नहीं।

वैसे सख्य अवस्था धन जाति की अपेक्षा नहीं रखता, वह तो परम स्वतन्त्र है, किन्तु फिर भी सामान्यतया प्रेम समानता में होता है, यदि मैत्री के पूर्व कुछ असमानता होती भी है तो सखा-सम्बन्ध उसमें समानता कर देता है। संसार में सब कुछ मिलना सम्भव है, किन्तु सच्चा मित्र सहृदय सखा किसी भाग्यवान् विरले मनुष्य को ही प्राप्त होता है। 'भाग्येनेतत् लभ्यते।'

मीरा का सम्बन्ध मनमोहन से मधुरातिमधुर था। जब उसमें सभी प्रकार की आसक्तियों का समावेश है, तब फिर सखा तो उसका प्रधान भाव है। क्योंकि सखा के माने ही है निकटतम बन्धु। बन्धु उसे कहते हैं जो अपनी प्रेम-रज्जु में कसकर बाँध ले। जहाँ चाहे घुमावे, अपने मन को उसके मन में मिला देना ही सच्चा सौहार्द है। मीरा को भी उसके मित्र गिरिधर लालजी ने कसकर बाँध लिया था। इसलिये वह अकपका कर जोरों से गा उठी।

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मन लागी कटारी प्रेमनी रे।
जल जमुना माँ भरता गया ताँ हती गागर माथे हेमनी रे॥
काँचे ते ताँत ने हरि जीये बाँधे जुम चे जेते तेमनी रे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर साँवली शुभ एमनी रे।

मैत्री में वैसे सन्देह के लिये स्थान तो नहीं किन्तु एक ध्यान रहता है कि मैं स्वयं मित्रता के योग्य नहीं, जितना ये मुझे अपनाये हुए हैं। दोनों ही ओर से यह भाव उठता है और असल में

यही भाव प्रेम को बढ़ाता है। बढ़ाते-बढ़ाते कहाँ ले जाता है, इसका पता आज तक किसी ने न पाया, न पावेगा। प्रेमी किसी दूसरे को चाहता नहीं 'प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समायँ' और स्वयं प्रेम अन्धा है, इसीलिये प्रेम एक अनुभवगम्य आसव है, किसी भी ओर प्रकट हो, किसी भाव में प्रतीति हो वही निहाल कर देता है।

श्रीजी को शङ्का बनी रहती थी कि मनमोहन मुझे प्यार करते हैं या नहीं। एक दिन स्वयं एक ग्वारिये का वेष रखकर इसकी परीक्षा करने पधारीं। दोनों मित्रों में बातें होने लगी। मित्रों में तो वही रहस्य भरी बातें होती हैं, क्योंकि 'परोक्षप्रिया हि देवाः' चर्चा यही छिड़ी कि श्रीजी कैसी हैं। गोप रूप में श्रीजी ने अपने ही मुख से श्रीजी को भाँति-भाँति की शिकायतें कीं। बस, इस बात से तो मैत्री में अन्तर पड़ गया। जिसके लिये यह जीवन है, उनकी बुराई भला कैसे सह सकते हैं श्यामसुन्दर ने मीठी भर्त्सना के साथ कहा—

सखा तुम बोलो बात बिचारी।
कहो कौन सी बात जगत में जैसी है भानुदुलारी॥

यह तुम बेतुकी हाँक रहे हो। तुमसे मैं अभी यार कुट्ट कर देता, किन्तु तुम मेरी प्यारी की-सी सूरत के दीखते हो, इसी से मैंने सुन ली है। तुमसे मैं क्या कहूँ वह तो मेरे हृदय में वास करती है। बस फिर क्या, जो चाहती थी, वही मिला दोनों एक हो गये—

प्रेम बिबश कछु सुरत नहीं ना, तनकी दशा बिसारी।
लिये लगाय वैग उर प्यारी, तब हँसि रसिकबिहारी॥

प्रेम में एक और भी बात यह रहती है कि अपना प्रेम सदा न्यून ही दीखता है। कैसे भी कोई समझावे, विश्वास दिलावे

यह शङ्का मिटती नही। कभी-कभी तो शङ्का यहाँ तक हो जाती है कि मेरे प्रेम के अभाव से ये कुछ रुठे हुए भी हैं, किन्तु यह स्मरण रहे मन का खिंचाव इस भाव से और भी अधिक बढ़ता है, वह प्रेम पिपासा-भी इन भावों से और भी निकटतम आ जाता है। मीरा भी अपने मित्र गिरिधर लाल की शिकायत करती है—

जाबा दे री जाबा दे, जोगी, किसका मीत।
सूदा उदासी मोरी सजनी, निपट अटपटी रीत ॥१॥
बोलत वचन मधुर अति प्यारे, जोरत नाहीं प्रीत ॥२॥
हूँ जाणूँ या पार निभैगी, छोड़ चल्या अध बीच ॥३॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, प्रेम पियासी मीत ॥४॥

इस प्रेम पिया में मीन की बलिहारी है, बलिहारी।

—:०:—

मीरा की कान्तासक्ति

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥*

कान्ताभाव कितना मधुर है, कितना सुखद है। इस भाव के स्मरण मात्र से ही अङ्ग-अङ्ग में, रोम-रोम में स्फूर्ति आती है। जब इस विषय वासनापूर्ण अनित्य जगत् में ही इसी भाव की आशा से लोग पागल बने रहे हैं, भाँति-भाँति के दुखों को उठाते हुए भी वैराग्य की ओर अग्रसर नहीं होते तो जहाँ विषयों का लेश नहीं, दुखों का स्पर्श नहीं, निरानन्द की गन्ध नहीं उन हरि में जिन्होंने यह सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, वे आनन्द की सीमा को पार कर गये हैं, उनके श्री चरणों में हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है।

गोपियों ने श्रीकृष्ण का भजन उनको अपना परम कान्त समझकर ही किया था, ब्रह्म भाव से नहीं। 'कृष्णं विदुः परं कान्त न तु ब्रह्मतया मुने।' स्त्रियों के लिये अपने पति ही कान्त और परम उपासनीय हैं। उनकी ही उपासना ईश्वर

---

* हे कान्त ! हे वृष्णि वंशावतंस ! इस जन्ममरण रूपी संसार में भमभीत होकर जो तुम्हारे चरणों की शरण में आते हैं, उन पर आप अपना वरद हस्त रखकर उन्हें संसार के सभी दुखों से अभय कर देते हैं, जो कर कमल कामरूपी प्रेम को प्रदान करने वाले है, कमला को जिन करों ने कृपा पूर्वक पकड़ा है, उन्हीं कमलों से भी कोमल करों को आप हमारे सिर पर रख दें तो हमारा यह जीवन सफल हो जाय।

भाव से करने पर ही स्त्रियों का कल्याण होता है, उनके लिये पृथक् यज्ञ, पृथक् धर्म-कर्मों का विधान नहीं। पति के कर्मों में ही उनका भाग है, उनके साथ उनकी आज्ञा से ही वे धार्मिक कृत्य कर सकती हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। 'भर्त्तुः शुश्रुषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।' माया से रहित होकर निष्काम भाव से पति की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है, क्योंकि स्त्रियों को पति के द्वारा इच्छित कामनाओं की, धर्म की और यहाँ तक कि मोक्ष की प्राप्ति होती है, पति ही परमेश्वर है।

जिनका पूर्वजन्म के पुण्य से परमात्मा में ही पति भाव हो गया हो या जिनका संसारी पति बीच में ही छोड़कर परलोकवासी हो गया हो, उसके परम कान्त वे ही श्री हरि हैं। ब्रज की गोपिकायें इन्हीं में से थीं, वे श्रीकृष्ण को ही अपना परम कान्त मानती थीं, अपने पतियों को तो उनकी प्रतिछाया-चित्र समझती थीं। उनका विश्वास था कि हमारा विवाह श्रीकृष्ण के ही साथ हुआ है, हमारे असली पति वे ही हैं।

इतनी गोपियों के साथ, एक साथ विवाह कैसे हुआ, इसका सम्बन्ध कुछ रसिक भक्त यों जोड़ते हैं कि जब भगवान् के साथ के गोप और बछड़ों को ब्रह्माजी चुरा ले गये तब एक साल तक श्रीकृष्ण ही भिन्न-भिन्न रूपों में रहे। उस दिन संयोग की बात की ब्रज के सभी ग्वाल-बाल वहाँ आ गये थे। गोपों का सम्बन्ध परस्पर में होता है। भगवान् की माया विचित्र होती ही है, उस साल यह भ्रम गोपों में फैल गया कि अब अगले ५-७ वर्षों में विवाह की लग्न ही ठीक नहीं है, जिन्हें विवाह करना हो इसी साल कर लो। बस, सभी ने अपने लड़के

लड़कियों की शादी चटपट कर डाली। किसी गाँव की लड़की किसी भी गाँव के गोप के साथ विवाही जाय, गोप रूप में तो वे श्यामसुन्दर ही थे। सभी का विवाह उन चित्तचोर मुरलीधर के साथ हो गया। साल भर बाद ब्रह्माजी का मोह भङ्ग हुआ, उन्होंने गोप ग्वाल-बाल और बछड़ों को छोड़ दिया। भगवान् ने जो ग्वाल-बाल और बछड़ों का रूप रखा था उसे अपने में समेट लिया। और साल भर तक ब्रह्मलोक में रहने वाले उन गोपों को कुछ पता ही न चला। उन्होंने समझा हम अभी यहीं बैठे हैं। इस रहस्य को बलदेवजी ने समझ लिया। इसीलिये उन्होंने आश्चर्य किया था।

विवाह तो सबका नन्दनन्दन के ही साथ हुआ, क्योंकि भगवान् ने भिन्न-भिन्न रूपों से उन सब व्रज-बालाओं का वरण किया था, अतः रूप की दृष्टि से पति उनके कान्त थे। वस्तुतः परम कान्त तो मुरली विहारी ही थे। तभी तो जब मुरली की ध्वनि सुनकर सभी की सभी एक साथ अपने परम कान्त से मिलने गईं तो उन मायावी, छलिया. नटखट ने पहिले तो उन्हें भुलावा दिया—यहाँ क्यों चली आई ? चाँदनी देखने आई हो ? वन की शोभा देखने आई हो ? या मुझे देखने आई हो ? किस लिये आई हो, अब देख लिया अच्छा लौट जाओ, पतियों की सेवा करो यही धर्म है।"

सखियाँ सब हाय-हाय करने लगीं। कोई उनकी निष्ठुरता की निन्दा करती हुई बोली—"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्' मोहन ! गजब मत ढाओ, ऐसी निष्ठुरता ठीक नहीं। उनमें से एक बोली—"अच्छा तुम पति सेवा की आज्ञा देते हो हमें मंजूर है, किन्तु हमारी एक बात का उत्तर दे दो। भगवान् ने पूछा—कौन-सी बात का ?" वह बोली—"एक पण्डित थे

वे परदेश जाने लगे। उनकी सती साध्वी पतिव्रता पत्नी रोने लगी कि मैं कैसे जीऊँगी। मेरे लिये कोई आधार होना चाहिये, पति ने अपने रूप की मूर्ति देकर कहा—"इसकी पूजा करना जब तक मैं न मिलूँ तब तक।" पतिव्रता ने स्वीकार किया। उस चित्रपट की वह श्रद्धापूर्वक सेवा करने लगी। कालान्तर में पति देव आ गये, किवाड़ खटखटाये, वहाँ पतिव्रता चित्र की पूजा कर रही थी, आवाज उसने पहिचान ली। पति की भी आज्ञा थी, 'जब तक मैं न मिलूँ तब तक इसकी पूजा करना।" अब बताइये वह उस चित्र की पूजा छोड़े या नहीं? भगवान् ने कहा—"जब प्रत्यक्ष ही पति आ गया तो चित्र की पूजा से क्या लाभ?"

तब सखी ने कहा—"छलियों के सरदार! तुमने विवाह तो हमारे साथ किया, फिर अपने उस प्रभाव को समेटकर हमें अपनी प्रतिछायाओं के सुपुर्द कर आये। जब आधी रात्रि के समय तुमने मुरली में अपनी आवाज खटखटाई और हम उसे पहिचान कर दौड़ी आईं, तब फिर तुम किस मुख से कहते हो कि प्रतियात ततोग्रहान्, अपने-अपने घर को लौट जाओ।" सखी की दलील युक्तयुक्ति थी, मनमोहन कुञ्जविहारी को कायल होना पड़ा और उनके साथ रास रचना पड़ा।

मीराबाई की गिरिधर लालजी के प्रति बाल्यकाल से ही पति रूप से आसक्ति थी। माता-पिता ने जब श्री भगवान् की ओर संकेत करके कहा—"बस, तेरे पति ये ही हैं, तभी से उसने उन सुघड़ साँवरे से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया।" वे मेरे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ वे मेरे स्वामी हैं, मैं उनकी दासी इत्यादि सभी प्रकार के सम्बन्ध, सभी प्रकार के स्नेह उसने उन बनवारी के ही साथ स्थापित किये उन सब सम्बन्धों में कान्ताभाव सर्व

श्रेष्ठा था। वहाँ उसका सर्वोच्च प्रधान भाव था, अन्य सब प्रसङ्ग-वश मन को समझाने के भाव थे। कुल वालों ने भाँति-भाँति से समझाया, किन्तु उसके मन में एक भी न बैठा। अन्त में उसने कह दिया—

थाने कांई कांई समझाऊँ म्हारा बाल्हा गिरिधारी।
पूर्व जन्म की प्रीति हमारी, अब नहिँ जात निवारी ॥१॥
सुन्दर बदन जोवते सजनी, प्रीति भई छे भारी।
म्हारे घरे पधारो गिरिधर, मङ्गल गावै नारी ॥२॥
मोती चौक पुराऊँ बाल्हा, तन मन तो पर वारी।
म्हारो सत्पण तोसूँ साँवलियाँ, जग सु नहीं विचारी ॥३॥
मीरा कहें गोपिन को बाल्हो, हम सूँ भयो ब्रह्मचारी।
चरण शरण है दासी तुम्हारी, पलक न कीजे न्यारी ॥४॥

अनुराग के अनेक भेद हैं। उनमें असंख्य भाव हैं, किन्तु उनमें तीन प्रधान हैं। पूर्वानुराग, मिलन और विरह। इन्हीं तीनों भावों से अपने प्रियतम की स्मृति में रात्रि दिन एक करना है। इनमें उत्तरोत्तर एक-से-एक बढ़कर हैं। विरह तो प्रेम रूपी दूध की मोटी मलाई है, इसका वर्णन आगे होगा। यहाँ तो प्रीतम से पूर्वानुराग और मिलन की ही यत्किञ्चित चर्चा की जायगी।

अभी प्रियतम से भेंट हुई नहीं। खाली नाम भर सुना है, इसकी कीर्ति ने ही एक मीठी गुदगुदी पैदा कर दी है, स्नेह का स्रोत बहा दिया है। अब सोते-जागते उसी की स्मृति बनी रहती है। उसी के नाम में तो इतना आकर्षण है। मीरा कहती है—

पिया तेरो नाम लुभाणी हो।
नाम लेत तिरता सुण्यो, जैसे पाहण पाणी हो।

सुकिरत कोई न कीयो, बहु करम कुभाणी हो।
गणिका कीर पढ़ावताँ, वैकुण्ठ वसाणी हो॥
अरध नाम कुञ्जर लियो, बाकी अवध घटानी हो।
गरुड़ छाँड़ि हरि धाइया, पसु जूण मिटाणी हो॥
अजामेल से ऊधरे, जम त्रास नसानी हो।
पुत्र हेतु पदवी दई, जग सारे जाणी हो॥
नाम महातम गुरु दियो, परतीत पिछाणी हो।
मीरा दासी रावरी, अपणी कर जाणी हो॥

यह है नाम की आसक्ति। प्रियतम का नाम रटती रही। नाम रटते-रटते अनुराग के भावों का उदय हुआ, इच्छा बलवती होने लगी। अब यह चाह होने लगी कि एक बार उस रूप राशि के दर्शन हो जाते तो यह तन की तीव्र तपन शान्त हो जाती। उसके नाम से इतना आकर्षण है कि उसे एक बार देख लें तो बस, फिर उस रूप के ही आनन्द में सुख है। मीरा कहती है—

गोविन्द कबहुँ मिले पिया मेरा।
चरण कमल हँसि करि देखों, राखौं नैनन मेरा॥१॥
निरखण को मोहिँ चाव घणेरों, कब देखौं मुख तेरा॥२॥
व्याकुल प्राण धरत नहिँ धीरज, मिलूँ तूँ मीत सवैरा॥३॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, ताप तपन बहुतेरा॥४॥

सवेरा मिल जा और इस बहु तेरे ताप तपन को मिटा जा। यह चाह है, पूर्वानुराग है। अब तक खाली दर्शन की ही अभिलाषा है। वे तो वांछा कल्पतरु हैं, जो मनुष्य चाहता है कभी-न-कभी पूरा होता ही है। एक दिन वह दृष्टि पड़ ही तो गया। अरे, यह क्या? यह तो मामला ही उलट गया। सोचा था,

एक बार देखने पर तृप्त हो जायगी, इस दृष्टि ने तो सीधा कलेजे पर वार किया और उसने कसक ही नहीं पैदा कर दी, एक बड़ा-सा घाव भी कर दिया। अब यह तो और भी गड़बड़ इसकी दवा क्या हो ? कौन दवा करे ? अपनी वेदना कहें भी तो किससे, लोग सुनेंगे, हँसेंगे और हँसकर चुप हो जायँगे। झेलना तो हमें ही पड़ेगा, कोई बाँट तो लेगा नहीं। फिर भी हृदय की पीर बिना किसी से कहे रहा भी तो नहीं जाता। प्रेमी के सामने पीर प्रकट करने से जी कुछ हलका-सा हो जाता है। इसीलिये उसने अपनी आली के सामने कहा—

आली ! साँवरे की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है ॥
लागत बेहाल भई, तन की सुधि बुधि गई।
तन मन व्यापो प्रेम, मानों मतवारी है ॥१॥
सखियाँ मिलि दुइ चारि, बावरी सी भई न्यारी।
हौं तो वा को नीके, जानौं कुञ्ज को बिहारी है ॥२॥
चन्द्र को चकोर चाहै, दीपक पतङ्ग दाहै।
जल बिना मीन जैसे, तैसे प्रीति प्यारी है ॥३॥
बिनती करौं हे श्याम, लूँ मैं तुम्हारो नाम।
मीरा प्रभु ऐसे जानो, दासी तुम्हारी है ॥४॥

इस अवलोकन ने चित्त में घाव कर दिया, अब स्वाँस-स्वाँस पर वह मूरति, वही चितवन, वही उसकी मुरली की मधुरमयी तान याद आती है। पल-पल में उसकी स्मृति बेचैन बना देती है। इसलिये मीरा ने गाया—

या मोहन के रूप लुभानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन, बाँकी चितवन मद मुसकानी ॥

जमुना के तीरे तीरे धेनु चरावैं, बंसी में गावै मीठी बानी।
तन मन धन गिरिधर पर वारूँ, चरण कमल लपटानी ॥

यह तो बड़ा अन्याय होगा, लोक रीति, कुलरीति के विपरीत पड़ेगा। बिना घर वालों की अनुमति के अपने आप तन, मन, धन वारकर चरणों में लिपट जाना तो सदाचार के विरुद्ध पड़ता है। किन्तु वह प्रेम तो अलौकिक है, उसमें इन लौकिक मर्यादाओं की परवाह नहीं लौकिक मर्यादायें इन्द्रिय वासनाओं के निग्रह के लिये हैं। हमारी यह कसक तो हृदय की है, विवशता की है। घर वाले बिगड़ते हैं तो बिगड़ें। मीरा तो निर्भय होकर कहती है—

श्री गिरिधर आगे नाचूँगी।

नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊँ, प्रेमीजन को जाचूँगी ॥
लोक लाज कुल की मरजादा, यामें एक न राखूँगी ॥
पिय के पलँग जा पौढ़ूँगी, मीरा हरि रंग राचूँगी ॥

कोई कुछ कहो मैं तो—

मैं तो साँवरे रंग राची।

साजि सिङ्गार बाँध पग घुँघरूँ, लोक लाज तजि नाची ॥
उण बिण सब जग खारो लागत, और बात सब काची ॥
मीरा श्री गिरिधर लाल सूँ, भगति रसीली जाँची ॥

बात बड़ी बदनामी की है। सखियों ने समझाया—"बाई! यह बात अच्छी नहीं, लोक लाज का भी ध्यान रखना चाहिये। दुनियाँ में भाँति-भाँति के चवाव हो रहे हैं। बात कुछ छिपने वाली तो है नहीं।

अभी तो लोग कहते हैं कि इसने कुल मर्यादा को छोड़ दिया, बिलकुल बिगड़ गई। सो अब भी कुछ बना बिगड़ा नहीं

है, इस पागलपन को छोड़ दो। इस पर उस प्रेम दिवानी नें उत्तर दिया--"बहिन ! मेरे वश की बात थोड़े ही है। इन आँखों की आदत ही ऐसी पड़ गई है। उस रूप की चाट इन्हें ऐसी लग गई है कि मना करने पर भी नहीं मानते। इसका क्या उपाय हो—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी।

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति, उर बिच आन अड़ी ॥
कब की ठाढ़ी पन्थ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखों, जीवन मूल जड़ी॥
मीरा गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥

लोगों की तरफ देखूँ या मन की तरफ। जान-बूझकर आग में कौन कूदता है। क्या पतंगे को पता नहीं कि लौ में जायगा तो जलकर भस्म हो जायगा। किन्तु वह जाने को विवश है। बिना ज्योति के आलिङ्गन किये उसके तन का तपन बुझती ही नहीं, उसके मन की हवस मिटती ही नहीं। सो आली ! मुझे तो

'हठेन केनापि वयं शठेन दासीकृता गोपवपूबिटेनः'

इसी तरह अनेक भावों में दिन बीते। रात्रि दिन एक किये। पत्र लिखने का विचार किया, वह भी न लिखा गया। प्रीतम की स्मृति में रात्रि दिन एक कर दिया। कोई समय खाली नहीं। जिस समय उनको प्रतीक्षा न हो, एक दिन वे कृपा करके पधारे भी, पूर्वानुराग मिलन में भी परिणत हुआ। मिलने का जो समय उसी में पधारे, सो मीरा अपनी सखी से कह रही है—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूँ, जाग परी पिव ढूँढ़ न पाये॥

और सखी पिव सूत गमाये, मैं जु सखी पिउ जागि गमाये ॥
आज की बात कहा कहूँ सजनी, सपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी, आज भये सखि मनके भाये ॥
यो माहरो सुनो अरु गुनि है, बाजे अधिक बजाये।
मीरा कहे सत्त कर मानों, भक्ति मुक्ति फल दोनों पाये ॥

यह है मिलन का सुख। जिसकी आशा लगी थी, जिसके पीछे इतनी बदनामी सुनी थी, वे प्राण प्यारे पधारे जिन्होंने अपनाया और भक्ति मुक्ति से भी बढ़कर सुख दिया।

मीरा का अपने गिरिधर लाल में यथार्थ पति भाव था। वैसे तो वे सम्पूर्ण जगत् के पति हैं, किन्तु पति भाव से ही भजन करना वैसी ही निष्ठा बनाये रहना यह साधन की चरमातिचरम सीमा है। कहना यों चाहिये कि मनुष्य की शक्ति से परे की बात है। इस भाव को पुरुष कवियों ने भी व्यक्त किया है, क्योंकि वे भी प्रकृति में अपने को मानते हैं, पुरुष तो वे ही एक आनन्दकन्द प्रेम राशि नन्दनन्दन ही हैं किन्तु फिर भी उनके भाव में उतनी स्वाभाविकता नहीं। भाव मानों गोपियों से उधार लिये गये हैं और उधार की चीज तो जैसी होती है सभी जानते हैं। किन्तु मीरा के भाव में बनावट की गन्ध नहीं, उसके भावों में स्वाभाविकता, सरसता सरलता सभी है, पढ़ते समय ही प्रतीत होता है कि एक पतिव्रता पत्नी निज पतिदेव को ही सर्वस्व समझने वाले अपने हृदय की आहों को उगल रही है। उसकी आहें सच्ची हैं। यथार्थ में उसने गिरिधर गुपाल को कान्त रूप में वरण किया था, वह उन बाँकेबिहारी की सचमुच में पत्नी थी। उनकी लालसायें अपने प्राणपति के साथ एकीभूत हो गई थीं। वह अपने प्राण प्यारे को स्मरण करके बार-बार गाती थी। एक

सच्ची पत्नी की अपने हृदय धन से जो आशा होती है, उस आशा को लगाये हुए वह आँसू बहाती हुई निरन्तर गाया करती थी और शून्य आकाश में अपने प्रियपति को सन्देश सुनाया करती थी—

पिया बिन रह्यो न जाइ ।
तन मन मेरो पिया पर वारूँ, बारबार बलि जाइ ॥१॥
निस दिन जोऊँ बाट पिया की, कबरे मिलोगे आइ ॥२॥
मीरा के प्रभु आस तुम्हारी, लीज्यो कण्ठ लगाइ ॥३॥

मीरा की वात्सल्यासक्ति

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिहनन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परब्रह्म ॥*

'हमारे प्यारे वत्स वे ही बाँसुरी वारे विहारी हैं।' ऐसी भावना कुछ करने से नहीं होती यह तो अनन्त जन्मों के परम पुण्य के भी फलों का फल है। यों कहिये कि मनुष्य अपने जप, योग, तप और कर्म आदि साधनों से इस सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकते, जब वे ही प्यारे कृपा करें, उनकी पुत्र बनने की इच्छा हो वे ही किसी की गोदी में खेलने के लिये लालायित हों तभी ऐसा सुखकर, सुमधुर, अनुपमेय, अनिर्वचनीय सुख प्राप्त हो सकता है, तभी तो परम आश्चर्य के साथ राजर्षि परीक्षित् भगवान् शुकदेवजी पूछते हैं—

'नन्दः किम करोत् ब्रह्मन्'

हे ब्रह्मन्! नन्द और यशोदा ने ऐसे कौन से सुकर्म किये थे, जिनके कारण हरि भगवान् उनके यहाँ पुत्र रूप में प्रकट हुए। सचमुच यह प्रेम की पराकाष्ठा है। सभी तो दशरथ-कौशल्या और नन्द-यशोदा तथा देवकी-वसुदेव नहीं हो सकते। न हों तो भी उस नन्द के छोहरा के प्रति वात्सल्य-प्रेम तो सभी

---

* कोई श्रुतियों की, कोई स्मृतियों की और कोई महाभारत की सेवा पूजा करे, किन्तु मैं तो उन नन्दबाबा की ड्योढ़ी को ही बार-बार नमस्कार करता हूँ, जहाँ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा खेलते हैं।

का ही होता है। परम भक्त रसखानजी की एक भोली-भाली सखी दही मथने की रई लेने नन्दबाबा के घर चली गई। वहाँ उसने जो देखा उसे देखकर वह भूली-सी, भटकी-सी, सिड़ी पगली-सी होकर लौटी और आकर धीरे से दूसरी सखी से कहने लगी।

आज गई हुति भोरहि हौ रसखानीं रई कहँ नन्द के भौनहिँ।
वाको जियो जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कह्यो नहिँ॥
तेल लगाय के अञ्जन आंज भौंह बनाय बनाय डिठोनहिँ।
डार हमेल निहारत आनन वारति ज्यौं चुचकारति छौंनहिँ॥

वहाँ वह सखी उस नन्हीं-सी साँवली सूरत पर लट्टू हो गई थी। उस सौन्दर्य-राशि पर उसने सर्वस्व वार दिया था। अपने सुख को किसी पर बिना प्रकट किये चैन ही नहीं पड़ता। जब तक किसी से कह न दें, हृदय में उथल-पुथल होती रहती है। उसने भी एक सखी से कहना आरम्भ किया—"देख बहिन, आज मेरी रई टूट गई थी, इससे दही बिलोने के लिये नन्द के घर बहुत ही तड़के गई थी। वहाँ पर मैंने····· बस, इतना कह कर सखी रुक गई। उसे ध्यान आया कि दूसरे के लड़के के सौंदर्य की तारीफ करने से कहीं उसे नजर न लग जाय। स्त्रियों का टोटका होता है। पर बिना कहे रह भी तो नहीं सकती। इसलिये कहने के पहिले आशीर्वाद दिया, उसका वह वर्णन किया। इस 'वाको, जियो जुग लाख करोर', में कितना वात्सल्य है और बालक के सुकुमार-स्वरूप का कैसा सजीव चित्र है।

मीरा बाई का तो श्यामसुन्दर से एक ही प्रधान सम्बन्ध था, तुम मेरे सर्वस्व हो, मैं तुम्हारी चेरी दासी और सहचरी हूँ। फिर

भी वात्सल्य भी तो उन्हीं से करना था। जब उनके बिना कोई दूसरा है ही नहीं। 'त्वमेव सर्वं मम देवदेव।' तब फिर वात्सल्य-रस को प्रवाहित करने कहाँ जायँ। वात्सल्य की हुड़क भी तो उन्हीं के द्वारा बुझानी होगी। इसीलिये उसने बालक मोहन का वर्णन किया है, जब वे अपने नन्हें से हाथों लकुटि लेकर गौओं को चराने जाते थे। बस उन्हें देखते ही मीरा गा उठी—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरत साँवरी सूरत नैना बने विशाल।
अधर सुधा रस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट शोभित, नूपर सबद रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई, भगत बछल गोपाल॥

यह नन्हें से गोपाल का वर्णन है। इसमें छुद्र घण्टिका और नूपुर शब्द बताकर उस बहुत ही लाड़िले बालक का वर्णन है, जो गौओं के चराने योग्य तो अभी नहीं, किन्तु हठ-पूर्वक मुरली लेकर धीरे-धीरे बछड़ों के पीछे नंगा ही चला जाता है। वात्सल्य-भाव में ऐश्वर्य का एकदम अभाव हो जाता है। ऐश्वर्य ज्ञान रहे तो फिर वात्सल्य हो ही नहीं सकता। यशोदा, कौशिल्या आदि माताओं ने जब अपने पुत्रों का ऐश्वर्यमय रूप देखा तभी वे डर गईं। किन्तु उन मायावी की माया से तत्क्षण वे उसे भूल गईं और फिर उसी प्रकार उन्हें अपना पुत्र मानने लगीं। चौदह वर्ष वनवास के बाद रावण को मारकर श्री राघवजी जब अवधपुर में लौटे तो माता ने बालक की भोली-भाली सूरत देखकर पूछा—"बेटा! इतने कोमल करों से तूने इतने बड़े-बड़े राक्षसों को कैसे मारा होगा, ये राक्षसों के युद्ध की बातें तो मुझे झूठी ही मालूम पड़ती हैं।' माता को क्या पता कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों

को क्षण भर में मिटाना और बनाना इनके बायें हाथ का खेल है।

कृष्ण ने कालियनाग को नाथा है, यह सुनकर यशोदा दौड़ी गईं और कितनी करुणा के साथ कहती हैं—

माता दूसरों से प्रार्थना करती हैं कि मेरे बालक को इस कालियनाग से बचा लो। वात्सल्य का कैसा सजीव चित्र है।

मीरा भी जब प्यार में आती है, जब उन भोले-भाले श्याम की बड़ी-बड़ी भोली-भोली आँखों को देखती है, तब उससे भी रहा नहीं जाता। वह भी इसी प्रकार प्रश्न पूछ बैठती है—

कमल दल लोचन तैंने कैसे नाथ्यो भुजंग।
पैठि पताल कालो नाग नाथ्यो फणफण निर्त करंत॥
कूद पर्‌यो न डर्‌यो जल माहीं और काहू नहिँ संक।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, श्री वृन्दावन चंद॥

मीरा की आत्मनिवेदनासक्ति

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्।
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्॥
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्।
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥*

आत्म-समर्पण के मानी हैं, अपनापन न रहना। अपनी सभी क्रियायें, सभी विचार, सभी वस्तुएँ, सभी सम्बन्ध सभी सुख-दुख अपने प्यारे को समर्पित कर देना। मेरा कुछ भी नहीं, सब तेरा है। मैं कुछ भी नहीं, बस, 'तुम्हारा हूँ' स्वामी की साँस में साँस मिलाकर साँस लेना। उनके संकेत पर नाचना। उनके ही लिये कर्म करना। हम दुखी क्यों होते हैं? क्या किन्हीं पदार्थों के आने से दुःख होता है? या किसी नई चीज के मिलने से? सुख भी किसी के पैदा होने पर या नष्ट होने पर? ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वस्तुयें सुख का हेतु हैं ही नहीं। रोज अनेक बैंकों के दिवाले निकलते हैं,

---

* गोपियाँ भगवान् से कह रही हैं—"नाथ! ऐसे कठिन वचन मत बोलो। हम सभी प्रकार के सम्बन्धों को सभी विषयों को छोड़कर तुम्हारे चरणों की शरण में आई है। हमने सर्वात्मभाव से अपने आपको आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। हम आपको निरन्तर भजने वाली हैं, हमारी एकमात्र आसक्ति आप में ही है। हे हठीले! हमें त्यागो मत! जैसे भगवान् अपनी शरण में आये हुए को अपना लेते हैं, वैसे हमें अपना लो।

उनके कारण न हमें हर्ष न शोक। किन्तु जिसमें हम अपना-पन कर लेते उन्हीं के नष्ट होने पर या अपने पास आने पर दुःख या सुख होता है अतः सुख-दुख का हेतु 'अपनापन' हुआ। इन अनित्य क्षण-भंगुर, परिवर्तनशील पदार्थों में 'अपनापन' करोगे तो सुख-दुख रूपी दुखदाई चक्र से कभी न छूट सकोगे। यदि तुम अपने को ऐसे के पाद-पद्मों में समर्पित कर दोगे, जो न कभी मरता है न जीता है, न जिसमें परिवर्तन होता है और न जो घटता-बढ़ता है तो तुम सदा एक रस होगे सुखी होगे, निरामय बनोगे। इसी का नाम आत्म-समर्पण है।

मीरा ने यही किया था। उससे कहा गया, ये तुम्हारे पति हैं, ये राजाओं के भी महाराजा तुम्हारे ससुर हैं। ये तुम्हारे पिता श्री हैं, ये पितामह हैं तब उसने निर्भय होकर कह दिया था—

'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई'

दूसरा होता ही कहाँ? वहाँ तो रोम-रोम में काला रम गया। 'प्रीतम छबि नैननि बसी, पर छबि कहाँ समाय।' इस-लिये उसने अपना सब कर्म गिरिधर लाल को समर्पित कर दिया। उसे अपने मन से पूजा भी नहीं करनी होती। वह करावें तो कर दी, न करावें तो उनकी मर्जी। अपने ऊपर पाप-पुण्य तो अब लगने का ही नहीं। 'तन् त्वमेव कृतं सर्वं त्वमेव फलभुक् भवेत्' तुमने ही सब किया है। यदि करने से दुख-सुख भोगना ही पड़ता हो तो उसे तुम भोगो, हमसे क्या मत-लब?

सास ने कहा यह पूजो वह पूजो। इसकी मनौती मानों, उसे प्रसन्न करो मीरा ने साफ कह दिया।

ना म्हें पूजा गौरज्याजी न पूजा अनदेव।
म्हें पूजा रणछोड़ जी सासु थे कोई जाणोभेव॥

इस भेद को जान ही कौन सकता है। आत्म-समर्पण कोई ढोल बजाकर सबको दिखाकर थोड़े ही किया जाता है। वह तो हृदय का सम्बन्ध है, अन्तःकरण का व्यापार है। जिसे अपने आपको निवेदन कर दिया बस, फिर सदा के लिये उसी के बन गये। बाजार का बर्तन तो है नहीं कि पसन्द न आया तो बदल लाये। यहाँ तो एक दाम है। एक बार जो कर दिया सो कर दिया, होना था सो हो गया, बस अब तो उसके घर में रहना होगा, उसके संकेत पर नाचना ही होगा। अपनेपन के बिना कोई काम होता ही नहीं, जब अपनेपन को उसके सुपुर्द कर चुके तो उसे छोड़कर कहीं जा भी कैसे सकते हैं। हाँ यदि वहीं बेचना चाहें किसी के साथ करना चाहें तो कर दें। किन्तु इससे क्या आत्म-निवेदन में अन्तर पड़ेगा। रहना तो उसी का होकर है। इसीलिये आत्म-निवेदन करके मीरा ने गाया—

मैं गिरिधर के घर जाऊँ।

गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़े तबही सो जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उण बिणु पल न रहाउँ॥
जहाँ बैठावैं तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥

मीरा की तन्मयतासक्ति

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥*

तन्मयता ज्ञान से भी प्राप्त होती है और प्रेम से भी । ज्ञान की तन्मयता में उसे अपने में ही मिलाकर अनुभव करना होता है और प्रेम की तल्लीनता में अपने को उसमें मिला देना है । बातें तो दोनों एक ही हैं, किन्तु इनमें निष्ठा का अन्तर है । उसके सिवाय कुछ नहीं । गोपियों की तन्मयता इसी प्रकार की थी । वे चराचर में श्रीकृष्ण को ही अनुभव करती थीं, चेतन हो अचेतन हो, सभी से उन्होंने श्रीकृष्ण का पता पूछा । ज्ञान की और प्रेमी की तन्मयता में एक बड़ा भारी अन्तर और है । ज्ञान-मार्ग में जहाँ एकत्व का अनुभव हुआ वहाँ फिर कभी द्वैत की गन्ध ही नहीं । जो मिला सो मिल गया । ऐसी दशा प्रेम में भी होती है, एक बार तो अपने आपे का, अपनेपन का सर्वतोभावेन नाश हो जाता है जैसे रासलीला में अन्तर्धान होने पर सभी गोपिकायें अपने को श्रीकृष्ण ही अनुभव करने लगीं—"कोई पूतना बध करती, कोई गौएँ चराने का अनुभव करतीं । सारांश यह कि उस समय उन्हें बिलकुल अनुभव

---

* श्रीकृष्णान्वेषण में कातर हुई वे गोपिकायें उन्मत्तों के समान प्रलाप करती हुई, श्रीकृष्ण के रूप में ही तन्मय होकर ही लीलाओं को करने लगी ।

होने लगा कि मैं नन्दनन्दन हूँ। किन्तु कुछ क्षणों के पश्चात् उनका यह भाव जाता रहा और वे आम, जामुन, कटहल, लता, वन, निकुञ्ज, यमुनाजी और फूलों से अपने प्यारे का पता पूछने लगीं। प्रेम में कभी-कभी तो कुछ क्षण के लिए अपनापन नहीं रहता, किन्तु उसमें छिपा हुआ स्थायी सूक्ष्मभाव यह सदा बना रहता है कि 'मैं सेवक हूँ, श्यामसुन्दर मेरे स्वामी।' इन सब रूपों में मेरे श्यामसुन्दर ही दीख रहे हैं, अतः मैं सभी का दास हूँ, सेवक हूँ, 'मैं सेवक सचराचर रूप राशि भगवन्त।'

सती साध्वी पत्नी का शरीर यद्यपि पति से पृथक्-सा दिखाई पड़ता है किन्तु क्या वास्तव में उसका शरीर अपने प्राणनाथ पति से भिन्न है। नहीं वह एक ही है। पति के आधे अंग से ये सब काम होते हैं, इसीलिये शास्त्रों में सती धर्मपत्नी को 'अर्द्धाङ्गिनी' कहा है। सती को किसी क्षण यह भान नहीं होता कि ये मेरे नहीं हैं, मैं इनकी नहीं हूँ। इसी भाव को तल्लीनता या तन्मयता कहते हैं। मीरा के प्रत्येक पद में वह तन्मयता दीखती है। श्यामसुन्दर को रिझाने के लिए ही उसकी सम्पूर्ण चेष्टायें हैं। वह कहती है—

राम हमारे हम हैं राम के, हरि बिन कछु न सुहावे।

पक्का रंग जब वस्त्र के ऊपर चढ़ जाता है तो रंग और वस्त्र तन्मय हो जाते हैं। उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी वे एक ही हैं, एक दूसरे को पल भर के लिये नहीं छोड़ सकते। जहाँ तक बीच में तनिक भी पर्दा है, वहाँ मिलन कैसा? वह तन्मयता हो ही नहीं सकती। सब कुछ समर्पण

करके अपने अस्तित्व को उसी में लीन कर देने से ही तल्लीनता प्राप्त होती है। मीरा कहती हैं—

मैं गिरिधर के रङ्ग राती सैंया, मैं गिरिधर के रङ्ग राती ॥
पँच रङ्ग चोला पहिर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिलि तन गाती ॥
जिनका पिया परदेश बसत है, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हिय बसत है, न कहूँ आती न जाती ॥
चन्दा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरण अकासी।
पवन पाणी दोनु हो जायँगे, अटल रहे अविनाशी ॥
सुरत निरत दिवला संजोले, मनसा की करले बाती।
प्रेम हटी का तेल मँगाले, जाग रह्या दिन राती ॥
सतगुरु मिलिया संसा भाग्या, सैन बताई साँची।
ना घर तेरा ना घर मेरा, गावे मीरा दासी ॥

झुरमुट देखने गई थी, वहाँ मुझे साँवला मिल गया। शरीर पर जो गाती लिपटी थी, उसे उतार कर उनसे मिल गई अर्थात् शरीर जन्य अहंकृति को फेंककर अपने को उन्हीं में मिला दिया, एकाकार हो गई। यही है प्रेमजन्यतन्मयता। उसमें सब सुख सब इच्छायें, प्यारे के ही ऊपर निर्भर हैं। ऐसा मिलन होने पर फिर बिछोह का तो काम ही क्या जब सदा मिले ही हैं तो किसको पत्र लिखूँ, किसे सन्देश भेजूँ। मीरा अपनी सब इच्छाओं पर विजय पाकर अपने स्वामी से तन्मयता प्राप्त करने के लिये तड़फड़ाती रहती है। और बार-बार आँसू बहाती हुई गाती है—

मैं गिरिधर के घर जाऊँ।

गिरिधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैण पड़े तब ही सो जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उन विन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावै तितही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥

मीरा की परम विरहासक्ति

> यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
> रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
> सद्यो वशीकरणचूर्ण मनन्त शक्ति-
> तं राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि ॥*

यदि एक वाक्य में विरह की व्याख्या करनी हो तो यही कहा जायगा कि "नित्य संयोग का ही नाम विरह है ।" शरीर के संयोग में तो पृथक् होने का भय है और संयोग वियोग का जोड़ा है । जो मिला है वह बिछुड़ेगा और जो बिछुड़ा है, वह मिलेगा, इसमें कोई अन्तर नहीं । यह अवश्यम्भावी है, किन्तु जो मन से मिला है, उसके साथ वियोग हो ही नहीं सकता । तभी तो मीरा ने कहा है—

औरों के पिय परदेश बसत हैं, लिख लिख भेजे पाती ।
मेरा पिया मेरे हिरदे बसत है, गूँज करूँ दिन राती ॥

असली बात तो यही है, प्रियतम के साथ गूँज करना अर्थात् रहस्य भरी चेष्टायें करते रहने का नाम ही विरह है । शरीर का सम्बन्ध नश्वर और अस्थाई है मन का सम्बन्ध ही सम्बन्ध है । विरहिणी मन से सदा अपने प्रियतम का ही चिन्तन करती

---

* जिन परम पुरुष प्रभु के दर्शन ध्यान द्वारा ब्रह्मा, शिव, शुकदेव, नारद, भीष्म प्रभृति सहसा नहीं कर सकते, उन्हीं प्रभु को शीघ्र ही वश में करने वाली पूर्ण अनन्त शक्ति स्वरूपिणी राधाजी की चरणाधूलि को मैं श्रद्धा भक्ति सहित प्रणाम करता हूँ ।

रहती है। विरह में नित्य संयोग है, वहाँ वियोग का नाम तक नहीं। वियोग एक ऐसी मादक लुभावनी चीज है जिसे न छोड़ते ही बनता है न स्वेच्छा से ग्रहण ही करने की इच्छा होती है। उसे सुख भी नहीं कह सकते और दुःख कहें तो कैसे कहें, क्योंकि उसमें प्रियतम की स्मृति सदा बनी रहती है, तभी तो कबीरदास जी ने कहा है—

विरहा विरहा मत कहो, विरहा है सुलतान।
जिहि घट विरह न संचरै, जो घट जान मसान॥

सचमुच विरह में एक प्रकार का मीठा-मीठा सुख न हो तो संसार में कुल कुटुम्ब परिवार धन, वैभव भोग–सामग्रियों को त्यागकर विरही क्यों व्यर्थ में आँसू बहाते रहते ? जिसे हम संसारी लोग परम सुख की वस्तुएँ समझते हैं, विरही उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, यही नहीं उसे ये सब सामग्रियाँ विषवत प्रतीत होती हैं। इससे इतना तो स्वतः ही सिद्ध है विरही का आनन्द कम-से-कम इन संसारी सुखों से तो सर्वश्रेष्ठ है ही। सर्वगुण सम्पन्न युवा पुत्र अपने सामने मर जाता है, धीरे-धीरे उसका शोक भी दूर हो जाता है और मनुष्य पुत्र बधू के रहते भी दूसरा विवाह करके संसारी सुखों में सब भूल जाता है। बहुत से भूलते नहीं, सोच में ही पड़े रहते हैं, उन्हें उस सोच में पड़े रहने में ही सुख प्रतीत होता है। सारांश यही है कि विरह भी एक प्रकार का अद्भुत सुख है और उनका अनुभव विरही के अतिरिक्त दूसरा कोई कर नहीं सकता। विरह प्रेम की अन्तिम अवस्था है। प्रेम का पर्यवसान विरह में ही होता है।

साहित्यज्ञों ने तथा रामानुगामी वैष्णवों ने विरह की बड़ी विशद व्याख्यायें की हैं। भेद प्रभेद और अनुभेदों को बताकर

इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। यहाँ उसके उल्लेख के लिये न तो स्थान ही है, न वह अपना उद्देश्य ही है, इस स्थान पर तो हम इतना ही बताना चाहते हैं कि मीरा बाई के जीवन में इस प्रेम की अन्तिम अवस्था की पूर्ण रीति से अनुभूति हुई। मीरा का सम्पूर्ण जीवन विरह-प्रधान रहा। अपने प्रियतम गिरिधर लालजी के साथ उसका नित्य ही संयोग रहा। वह उनके साथ हँसती, खेलती–किलोलें करती, मतलब उसके लिये गिरिधर लाल को छोड़कर दूसरा कोई संसार में था नहीं, जब तक उनके शरीर का संयोग रहता, तब तक तो उनके साथ आनन्द बिहार और रमण करती। जब मन से मेल होता तो वह विरहिणी बन जाती। उसका मन दूसरी बातें सोच ही नहीं सकता था। विरहिणी के जितने लक्षण शास्त्रों में बताये हैं, वे सभी उसमें अभिव्यक्त हुए थे। अत्यन्त ही संक्षेप में उनके उदाहरण सुन लीजिये।

विरह के आरम्भ की दस दशायें बताई गई हैं। वे हैं—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु। मीराबाई के जीवन में ये सब दशायें पूर्णतया प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिये हम उनके कुछ पद यहाँ नीचे उद्धृत करते हैं—

विरह की पहली दशा है चिन्ता। चित्त में वही अपना चितचोर चढ़ा रहे। उनके बिना एक पल भी अच्छा न लगे। कहाँ का खाना, कैसा पीना, बस प्रियतम की याद में ही समय बिताने का नाम चिन्ता है। कभी उनसे, बिनय करना कभी नाराज हो जाना, यही धुना-बुनी निरन्तर लगी रहे। अब मीरा की चिन्ता देखिये, वह कहती है—

घड़ी एक नहिँ आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम ही मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय॥
धान न भावै नींद न आवै, बिरह सतावै मोय।
घायल सी घूमत फिरूँरे, मेरा दरद न जाणै कोय॥१॥
दिवस तो खाय गमाइयो रे, रैण गमाई सोय।
प्राण गँवायो झूरता रे, नैण गमाई रोय॥२॥
जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय॥३॥
पन्थ निहारूँ डगर बुहारू, ऊबी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय॥४॥

इस एक ही पद में विरह की कितनी अवस्थाओं के दर्शन होते हैं, एक घड़ी न भूलने में निरन्तर की 'स्मृति' है, तुम मेरे प्राण हो, इसमें 'तन्मयता' है, तुम्हारे बिना जीवन किससे चले, यह 'वोध' है, अन्न नहीं भाता, नींद नहीं आती, इसमें कृशता और 'जागरण' है, घायल सी घूमत फिरूँ, यह 'उन्माद' की अवस्था है, मेरा कोई दरद नहीं जानता यह 'व्याधि' सूचक है। प्राण तड़पते-तड़पते गँवाये, आँखें रोते-रोते गँवाई इसमें 'मृत्यु' 'निर्वेद' दोनों ही हैं। जो मैं यह जानती कि प्रीति करने से दुख होता है तो ढिंढोरा पीटती—कोई प्रीति मत करना। इसमें 'शङ्का' 'निर्वेद' 'बिषाद' 'ग्लानि' सभी संचारी भावों का समावेश है। पंथ निहारती हूँ, आपके आने के लिये रास्ता बुहारती हूँ, इसमें 'औत्सुक्य' 'आशा' है। पन्थ निहारते-निहारते ऊब गई, इसमें 'निराशा' भी है। हे गिरिधर लाल कब मिलोगे? इसमें निर्वेद, दैन्य, हानि, आशा सभी का

समावेश है। तुम्हारे मिलने से सुख होगा, यह सिद्धान्त की आशाजन्य सुखपूर्ण बात है।

विरह की दूसरी अवस्था है 'जागरण' जिन आँखों में प्रियतम का रूप बसा है, वहाँ निद्रा आ ही कैसे सकती है, अतः विरहणी के लिये सोना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है, उसकी अधिकांश रातें अपने प्रियतम की स्मृति में जागते-जागते ही बीतती है। चेष्टा करने पर भी नींद नहीं आती। वह रात भर जागकर मछली की तरह पड़पती रहती है। चातक जैसे घन की ओर टकटकी लगाये देखा ही करता है उसी तरह वह प्रियतम की बाट जोहती रहती है। मीरा ने अपनी 'जागरण' दशा का स्वयं ही बड़ा सुन्दर जीता जागता अनुभव पूर्ण वर्णन किया है। वह अपनी एक सखी से कह रही है—

सखि मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते, सब रैन बिहानी हो ॥१॥
सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखे कल ना परै, जिय ऐसी ठानी हो ॥२॥
अङ्ग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अंतर वेदना विरह की, वह पीर न जानी हो ॥३॥
ज्यौं चातक घन को रटै, मछली जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल विरहिनी, सुध बुध बिसरानी हो ॥४॥

सचमुच विरहावस्था में सुध-बुध नींद, भूख सभी भूल जाती है। विरह की एक 'कृशता' भी दशा है। प्रियतम की याद में क्षीण हो जाना। उसका भी उदाहरण 'अंगछीन' व्याकुल भई में ही समझ लेना चाहिये—

'उद्वेग' उस अवस्था को कहते हैं जो मन में एक प्रकार की हलचल पैदा हो जाने से उत्पन्न होती है। अपने ऊपर ग्लानि

होती है और विरह की बेहोशी में अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती है। विरहिणी मीरा पछताती है—

माई म्हारी हरि न पूछी बात।
पिंड में से प्राण पापी, निकस क्यूँ नहिँ जात ॥१॥
रैण अँधेरी विरह घेरी, गिणत सब निस जात।
लै कटारी कण्ठ चीरूँ, करूँगी अपघात ॥२॥
पाट न खोल्या मुखाँ न बोल्या, साँझ लग परभात।
अबोलना में अवध बीती, काहे की कुशलात ॥३॥
सुपन में हरि दरस दीन्हौं, मैं न जान्यो हरि जात।
नैन म्हॉरा उघड़ आया, रही मन पछतात ॥४॥

विरह की एक अवस्था का नाम 'प्रलाप' है। अपने पराये का या जड़ चेतन का कुछ भी ध्यान न करके विरह के अंट-संट बकने का नाम प्रलाप है। वाणी से प्रियतम की बातें निकलती रहे। किसी बहाने से, किसी कारण से अपने प्यारे की स्मृति हो आवे और उसमें होनी न होनी सभी तरह की कल्पनायें करना और इन्हें प्रकट करते रहना ही प्रलाप है। अक्सर पागल लोगों को 'प्रलाप' करते देखा है, वे बिना प्रसंग बिना सिलसिले के कुछ-न-कुछ बकते ही रहते हैं। उनकी बातों में भी बहुधा वे ही बातें होती हैं, जिनके कारण वे पागल हुए हों या जिन्हें भोग चुके हों। विरहिणी को भी प्यारे के सम्बन्ध की कोई बात मिल जाती है तो उसी पर बक-झक करने लगती है। पपीहा की वाणी में कहीं 'पीउ-पीउ' की ध्वनि प्रतीत होती है बस, उसे ही सुनकर विरहिणी मीरा चौंक पड़ती है। उसे सन्देह होता है कि यह दुष्ट पपीहा मेरे ही प्रियतम को पुकार

रहा है। बस, इतनी बात ध्यान में आते ही इनका प्रलाप प्रारम्भ हो जाता है—

पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।
जो सुणि पाड़ेली विरहणी रे, थारी रालेली पाँख मरोड़ ॥१॥
चोंच कटाऊँ पपइया रे, ऊपर काला लूण ।
पिव मीरा मैं पीव की रे, तू पिव काहे स कूण ॥२॥
थाँरा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेला आज ।
चोंच मढ़ाऊँ थारी सोंबनी रे, तू मेरे सिर ताज ॥३॥
प्रीतम कूँ पतिया लिखूँ रे, कउवा तू ले जाई ।
जाइ प्रीतमजी सूँ यूँ कहै रे, थारी विरहिणी धान न खाय ॥४॥
मीरा दासी व्याकुली रे, पिव पिव करत विहाइ ।
वेग मिलो प्रभु अंतरजामी, तुम बिन रह्यो न जाइ ॥५॥

आरम्भ में तो पपीहा पर बड़ा रोष प्रकट किया, धूर्त, पिया चाहे हमसे अलग हों, दूर हों, वे हैं तो हमारे। तू पिया का नाम लेने वाला कौन होता है! खबरदार, यदि फिर नाम लिया तो चोंच कटाकर उसमें काला नमक भरवा दूँगी। कटे पर नमक छिड़कना इसी का नाम है। फिर कुछ दूसरी ही लहर चली। 'प्यारे पपीहा! तेरी बोली तो बड़ी मीठी है, मालूम पड़ता है तेरी बोली शुभ सूचक शकुन है। यदि सचमुच आज प्रियतम से भेंट हो जाय तो तेरी चोंच सोने में मढ़ा दूँ और तुझे सम्मान के सहित सिर आँखों पर बिठा लूँ। इतनी देर बात चीत होने पर पपीहा से अपमान भी हो गया, इसलिये उससे काम करने को भी कहती हैं और साथ-ही-साथ अपनी विरह वेदना भी सुनाती है। प्रलाप ही जो ठहरा अब पपीहा भूलकर उसे कौआ कहने लगी— "हे भैया! कौआ! मैं एक पत्र लिखे देती हूँ, उसे तुम प्रियतम

को दे देना और कह देना, विरहिणी अन्न-जल, छोड़े हुये है। फिर अपने ही आप आह भरकर कहती है—"प्यारे प्रभु! अब नहीं रहा जाता बेग मिलो, जल्दी करो। यह प्रलाप की सी बातें हैं।

विरह की एक अवस्था 'मोह' भी है। मोह में सब अंग शिथिल हो जाते हैं। शरीर में शक्ति नहीं रहती। काम करने का इच्छा नहीं। बड़ी बेकली सी हो जाती है। मीरा की इच्छा थी अब मरना तो है ही विरहिणी के लिये मृत्यु के सिवाय कोई साधन नहीं। अब मरना तो है ही प्रियतम को एक पत्र ही लिख दूँ। किन्तु हाय! पत्र लिखा कैसे जाय, शरीर तो शक्तिहीन बन गया है।

पतियाँ मैं कैसे लिखू लिखि ही न जाई।
कलम धरत मेरे कर काँपत, हिरदो रहे धर्राई ॥१॥
बात कहूँ मोहिं बात न आवे, नैण रहे झर्राई ॥२॥
किस विधि चरणकमल मैं गहिहौं, सबहि अंग थर्राई ॥३॥
मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागर, सबहीं दुख बिसराई ॥४॥

विरह की अन्तिम व्यवस्था 'मृत्यु' बतलाई जाती है। मृत्यु के माने मृत्युवत् दशा। उसके पश्चात् भी 'भाव' 'महाभाव' 'मोदन' 'मादन' उन्माद, दिव्योन्माद, आदि विरह के अनेक भाव बताये गये हैं। मीरा के पदों में सभी भावों का समावेश देखा जाता है। अब एक पद उद्धृत करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। उसमें शेष सभी भावों का समावेश समझना चाहिये। मीरा का असली जीवन विरहमय ही है। जिसके जीवन में विरह है वह या तो जीवेगा ही नहीं, कदाचिद् जीवित भी रह जाय तो 'उन्मादवत्' नृत्यति लोकवाह्य' संसार से परे

होकर वह पागलों की तरह बना रहेगा, वह संसार के काम का फिर नहीं रह सकता। इसीलिये कबीर जी कहते हैं—

विरह भुजंगम तन डस्यो, मन्त्र न व्यापै कोय।
नाम वियोगी ना जियै, जियै तो बाउर होय॥

ऐसा पागलपन किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। वे विरही धन्य हैं, जिन्हें रात्रि-दिन रोते और जागते ही बीतता है, जो प्रियतम की याद में पीले पड़ गये हैं, जिन्हें प्यारे की याद में जीना भी अच्छा नहीं लगता, फिर विषय भोगों की बात ही क्या ? हम लोगों का जीवन भी कोई जीवन है। झूठ सच बोल कर दम्भ-प्रपंच से दिन में पेट भर लिया और रात्रि को टाँग पसारकर सो गये। संसारी प्रतिष्ठा के लिये हम सब कुछ कर सकते हैं। इसीलिये तो बड़े मीठे व्यङ्ग वाणों से कबीर जी हमें सुखी बताकर हमारा उपहास उड़ाते हैं। वे कहते हैं—

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै॥

कबीर जी ! क्यों तुम कटे पर नमक छिड़कते हो ? हम तो इन संसारी भोगों की प्राप्ति में ही दुखी हैं, फिर इनमें सुख तो है ही कहाँ ? महाराज ! तुम्हारी तरह रोना और जागना कुछ पुरुषार्थ से थोड़े ही प्राप्त हो सकता है। वह तो मीरा जैसी भाग्यशालिनी देवी को ही तुम्हारी अहैतुकी कृपा से मिलता है।

मीरा के जीवन में आदि से अन्त तक विरह ही विरह है। वह बनावटी नहीं, सच्ची विरहिणी थी। सचमुच उनका जीवन जागते और रोते हुए ही बीतता। बनवारी के साथ गाँठ बाँधकर उसने अग्नि को साक्षी देकर भाँवर फेर ली थी। बस, विरहासक्तिनी मीरा ने रोते-रोते स्वयं ही अपनी दशा का वर्णन किया है। इस पद में चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप,

उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु तक का दिग्दर्शन कराया है।
मीरा कहती है—

नाता नाम को मोसू तनिक न तोड़्यो जाय ॥
पानाँ ज्यू पीली पड़ी रें, लोग कहें पिंड रोग ।
छाने लाँघन मैं किया रे, राम मिलण के जोग ॥१॥
बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह ।
मूरख बैद मरम नहिँ जाणे, कसक कलेजे माँह ॥२॥
जाओ बैद घर आपणे रे, म्हाँरो नाव न लेय ।
मैं तो दाधी विरह की रे, काहे कू औषद देय ॥३॥
माँस गलि गलि छीजिया रे, करक रहा गल आहि ।
आँगुलियाँ की मूदड़ी रे, आवण म्हारे लागी बाँहि ॥४॥
रटु रटु पापी पपीहा रे, पिव को नाम न लेय ।
जे कोइ विरह न साम्हले, तो पिव कारण जिव देय ॥५॥
खिण मन्दिर खिण आँगणे, खिण खिण ठाढ़ी होय ।
घायल ज्यू घूमू खड़ी, म्हारी विथा न बुझै कोय ॥६॥
काढ़ि कलैजा मैं धरूँ, वे कौवा तू ले जाय ।
ज्याँ देसा म्हाँरो पिव बसै रे, वै देखत तू खाय ॥७॥
म्हाँरो नातो नाम को रे, और न नातो कोय ।
मीरा व्याकुल बिरहिनी रे, पिय दरसण दीज्यो मोय ॥८॥

अन्तिम पटाक्षेप

दुःसह प्रेष्ठविरह तीव्रताप धुताशुभाः ।
ध्यान प्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्या क्षीण मङ्गला ।
जहुर्गुणमयं देहंसद्यः प्रक्षीणबन्धना ॥*

प्रेमी न कभी जन्मते हैं न मरते हैं। जिस प्रकार प्रेम अजर, अमर, नित्य और निर्विकार है उसी प्रकार प्रेमी भी उसी के अनुरूप है। प्रेमी न कहीं से आते हैं, न जाते हैं। उनका आविर्भाव तिरोभाव होता है। कुछ दिन तक वे इन कोलाहलमय, राग द्वेष पूर्ण अवनि पर अवतरित होकर और यहाँ दिव्य रसका सिंचन करके, फिर अपने सत् स्वरूप में विलीन हो जाते हैं। वे प्रारब्धवशात् दुख-सुख भोगने नहीं आते। वे तो जीवों पर करुणा करके अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य करके अनिर्वचनीय प्रेम का दिग्दर्शन कराने के लिये, तृषित, पिपासित प्रेमियों को प्रेम पीयूष पिलाने के लिये आते हैं और उसकी झाँकी दिखाकर छिप जाते हैं। एक पर्दा उठता है. वे

---

* अपने परम प्रियतम श्री नन्दनन्दन की अत्यन्त तीव्र विरह-वेदना की लपटों से समस्त पापमय अशुद्ध कर्म निवृत्त हो गये हैं तथा ध्यानावस्था में प्राप्त हुए श्री हरि के आलिंगन सुख के परमाह्लाद से जिनके समस्त पुण्यमय शुभ कर्म नष्ट हो गये है। बन्धन का कारण तो पाप-पुण्य ही है। पाप रूपी बन्धनों के टूट जाने पर उन गोपियों ने अपना यह गुणमय शरीर त्याग दिया। वे श्रीकृष्ण के साथ तदाकार हो गईं।

जैसे के तैसे ही रंग मंच पर आते हैं, आते ही मधुरातिमधुर अभिनय करने लगते हैं। दूसरा पटाक्षेप होता है, शृङ्गार गृह में चले जाते हैं। अभिनय के वस्त्र उतार देते हैं फिर अपने स्वरूप में हो जाते हैं।

रंग मंच पर आते समय वे दूसरे नहीं थे, वही तन वही मन, वे ही हाव-भाव, कटाक्ष, वही आकृति-प्रकृति केवल कुछ वस्त्रों का और अंगराग आदि का ही अन्तर था। जहाँ वस्त्र उतारे शरीर से अंगराग पोंछा कि फिर वे-के-वे ही हो गये। उन्हें शरीर बदलना नहीं पड़ता।

साँभर की झील में रहने पर सभी द्रव्य उसी के स्वभाव, उसी के रूप के हो जाते हैं। प्रेम के संसर्ग से यह अनित्य शरीर भी चिन्मय बन जाता है, प्रेमी चाहें तो इसे छोड़कर जा सकते हैं, चाहें इसे साथ लेकर सशरीर जा सकते हैं। उन्हें शरीर से मोह नहीं, किन्तु उनके लिये शरीर बन्धन भी नहीं, उनका शरीर स्थूल नहीं रहता, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाता है। इसी-लिये बहुत से भक्तों के सम्बन्ध में मिलता है, वे शरीर के साथ ही अन्तर्धान हुए। जगज्जननी माँ वैदेही अपने शरीर के सहित ही, अपनी जननी वसुन्धरा के गर्भ में विलीन हो गईं। वे जैसी आईं थीं वैसी चली गईं। ब्रज की गोपाङ्गनाओं के सम्बन्ध में भी यही मिलता हैं, वे शरीरों के सहित गोपीचन्दन तालाब में अदृश्य हो गईं।

आधुनिक भक्तों के सम्बन्ध में भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो इस देह के सहित अपने निज धाम गये। महात्मा कबीर दास जी के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध ही है कि जब हिन्दू मुसलमान परस्पर में शव के सम्बन्ध में कलह करने लगे, तब वस्त्र उठाने पर वहाँ मृत शरीर नहीं था, परम सुगन्धित कुछ

प्रसून थे। यही बात महात्मा दादू दयाल के लिये भी प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त सन्त तुकारामजी तो सबके देखते-देखते सशरीर वैकुण्ठ पधारे। जो उन्हें ढोंगी दम्भी और क्षुद्र कहकर तिरस्कृत करते थे, वे इस दृश्य को देखकर परम विस्मित हुए। महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज भी जीवित अवस्था में ही एक गुफा में घुस गये जो अभी तक नहीं निकले। अभी एक दो वर्ष पहिले ही उड़ीसा में कोई एक सन्त थे, उनके सम्बन्ध में भी दो दलों में कुछ विवाद हुआ और वस्त्र उठाने पर वहाँ मृत शरीर के स्थान में पुष्प मिले। यह अभी की अनेक पुरुषों की आँखों देखी बात है।

महाप्रभु चैतन्यदेव के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध ही है कि उनका श्री विग्रह श्रीजगन्नाथ जी के श्री विग्रह में देखते-देखते एकीभूत हो गया। ठीक ऐसी ही घटना श्री मीराबाई के साथ घटित हुई।

संसार की अनित्यता को देखकर उनका मन ऊब गया था। राणा पृथ्वीराज का दासी पुत्र बनवारी वहाँ का राजा बन बैठा। मेवाड़ के राज्य पर यवनों का बार-बार आक्रमण हुआ। मेड़ता के राज्य को वीरमदेव से उनके भाई मालदेव ने छीन लिया, इन राज्य की उथल पुथलों से वे क्षुभित हो उठीं। साथ रहने से कुछ तो सहानुभूति होती ही है। 'मैं जब तक इन संसारी सम्बन्धियों के साथ रहूँगी' ये ही झगड़े लगे रहेंगे। इसलिये अपने सच्चे सगे सम्बन्धी के समीप सदा के यिये चलना चाहिये। यह निश्चय करके वे निकल पड़ीं और अन्त में श्री रणछोड़ जी के समीप श्री द्वारिका जी में रहने लगीं।

इधर काल चक्र ने फिर पलटा खाया। महाराणा साँगा जिस रानी को गर्भवती छोड़ गये थे, उनके गर्भ से राणा उदयसिंह उत्पन्न हुए। बाल्यकाल में वे इधर उधर भटकते रहे, अन्त में उन्होंने सम्वत १५९८ में फिर अपना पैतृकराज्य प्राप्त किया। राज्य पर बैठते ही उन्हें अपने कुल उज्वल करने वाली देवी मीराबाई की चिन्ता हुई। वे अनुभव करने लगे, उस देवी के अभिशापसे ही हमारे राज्य की ऐसी दुर्दशा हुई जैसे भी होगा मैं उस देवी को बुलाऊँगा। उसके चरणों में पड़कर अपने भाइयों के अपराधों को क्षमा कराऊँगा। साक्षात् जगन्माता की तरह उनकी पूजा करके अपने बन्धुओं के पापों का प्रायश्चित करूँगा। हाय ! उस महामणि को किसी ने समझा नहीं उसे काँच का टुकड़ा समझकर ठुकरा दिया। उसकी अवहेलना की।

इधर मेड़ता भी फिर से संवत् १६०० में वीरमदेवजी के अधिकार में आ गया। वीरमदेवजी का कुछ ही काल पश्चात् शरीरांत हो गया। उसके बाद राव जयमल मेढ़ते के सिंहासन पर सिंहासनारूढ़ हुए। उन्होंने भी मीराबाई को फिर से मेढ़ता लाने के लिये उपाय किये। पीहर में और ससुराल में दोनों ही जगह घोर विपत्तियाँ आईं और टल गईं। तब तो दोनों ने ही उस प्रेम की पुजारिन मतवाली मीरा के महत्व को समझा। दोनों के ही आदमी द्वारिका गये और अत्यन्त आग्रह से दोनों ने ही मीरा को पुनः पधारने की प्रार्थना की।

अब मीरा की अवस्था लगभग ५० वर्ष की हो चुकी थी, उसका हृदय पक चुका था, संसार के ऊँच-नीच सभी रूप को देख चुकी थीं। संसारी लोगों के सम्बन्धों का भी उन्हें कटु अनुभव हो चुका था। विपत्तियों ने उनके हृदय को कुन्दन बना

दिया था, उसमें मोह की गन्ध भी शेष नहीं थी। परिवार के ममत्व का लेश भी नहीं था, मेवाड़ और मेढ़ते की बातें उनके लिये स्वप्न के समान हो गई थीं। स्मृति पटल पर उनकी बहुत ही अस्पष्ट हलकी-सी रेखा रह गई थीं, जो कभी प्रकृतिस्थ होने पर–प्रयत्न करने पर–धीमी सी दिखाई दे जाती। नहीं तो वे अहर्निश अपने परम प्रियतम आराध्यदेव, गिरिधर गोपाल के ध्यान में तल्लीन रहती। उन्हें वाह्य जगत् का भान भी न रहता।

क्रमशः चित्तौड़ तथा मेड़ता के मनुष्य आये, मीरा से बहुत आग्रह किया, उन्होंने सभी को भाँति-भाँति की बातें बताकर समझा दिया, लौटा दिया। दोनों ही राज्यों के दूत लौट गये। मेड़ता के महाराज तो मान गये, उन्होंने सोचा—"अच्छा है, तीर्थवास कर रही हैं, हमारे यहाँ अब उसका मन भी न लगेगा। उनके यहाँ तो सगी पुत्री की तरह उसका आदर हुआ। जानबूझ कर उसे कोई कष्ट नहीं दिया गया था, इसलिये उन्हें सन्तोष था। किन्तु राणा के यहाँ तो इन्हें भाँति-भाँति की यातनायें दी गई थीं, उसे विष पिलाया था, साँप और विच्छुओं से कटवाया गया था, काँटों की सेज पर सुलाया था और इन्हीं यतनाओं से ऊबकर, दुखी होकर वे अपने पितृगृह चली गई थीं। राणा उदयसिंह को ये स्मृतियाँ व्यथित कर रहीं थीं। वे एक बार उस देवी के चरणों में पड़कर फूट-फूटकर रोना चाहते थे। वे शिशु की तरह उनकी गोद में बैठकर अपने हृदय की ज्वाला को शान्त करना चाहते थे। वे उनकी चरण-धूलि को अपने मस्तक पर चढ़ाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने फिर दूत भेजे।

वे स्यवं नहीं जा सकते थे। अभी-अभी राज्य प्राप्त किया

हैं। राज्य के अनेक शत्रु होते हैं। पहिले रेल नहीं थी, वायुयान नहीं थे। पैदल जाना पड़ता था। इसलिये अबकी उन्होंने अपने कुल पुरोहित को भेजा और हर प्रकार से समझा दिया कि जैसे भी बने तैसे आप साथ लेकर ही आवें, बिना उन्हें साथ लिये आप लौटें नहीं। राणा का विश्वास था, वह देवी ब्राह्मण के आग्रह को टाल न सकेगी और चाहे जैसे हो एक बार वह मुझे दर्शन देने अवश्य आ जायगी।

राज्य पुरोहित प्रतिज्ञा करके चले कि हम अब की अवश्य ही महारानी जी को साथ लेकर आवेंगे। इस आने जाने में लगभग दो तीन वर्ष लग गये। अब के कुल पुरोहित बहुत से सेवकों के साथ गये। यह लगभग सम्वत् १६०३-४ के आस-पास की बात है। उन्होंने जाकर मीराबाई को भाँति-भाँति से समझाया, हर प्रकार से मनाया, अनुनय विनय की, किन्तु वह प्रेम की पुजारिन अपने निश्चय से तनिक भी विचलित न हुई। उसका एक ही उत्तर था—"मुझे अपने प्यारे से पृथक् मत करो।

ब्राह्मण ने सोचा—"समझाने-बुझाने से अब यह न मनेगी। इसलिये अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करो। ब्राह्मण के पास एक ही अस्त्र है, अनशन करके अपना विरोध प्रकट करना। ब्राह्मण ने यही किया, वे कुशा बिछाकर श्रीरणछोर जी के मन्दिर में बिना अन्न जल ग्रहण किये एक करवट से लेट गये। उन्होंने प्रतिज्ञा की—जब तक मीराबाई मेवाड़ न चलेंगी, तब तक हम अन्न जल कुछ भी ग्रहण न करेंगे।

अब तो मीराबाई के लिये बड़ा संकट उपस्थित हुआ। परिवार वालों की उन्हें परवाह नहीं थी, परिवार जनों का मोह उन्हें अणुमात्र भी विचलित न कर सका, किन्तु ब्राह्मण के दुःख

को देखकर उनका मन विचलित हो उठा। उन्हें यह सबसे बड़ी विपत्ति दिखाई देने लगी। श्री द्वारकाधाम से अब बाहर जाने को जी नहीं करता, ब्राह्मण का दुःख देखा नहीं जाता। साँप छछूँदर की-सी गति हो गई, न निगलते ही बनता है न उगलते ही। अन्त में उन्होंने भगवान् से ही विनय की। बड़े ही करुणा के स्वर में उन्होंने गाया—

हरि तुम हरी जन की पीर।

द्रोपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि, धर्यो आप शरीर॥
हरिनकश्यप मारि लीन्हों, कियो बाहर नीर।
दासि मीरा लाल गिरिधर, दुख जहाँ जहँ पीर॥

उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ मानों गिरिधर लाल ने उनकी प्रार्थना सुन ली। उन्होंने प्रस्थान का साज सजाया सुन्दर-सी साड़ी ओढ़ी सोलह श्रृंगार किये। वेणी गूँथी, माँग में सिन्दुर भरा, भाल पर तिलक लगाया, चिबुक पर बिंदी अंकित की। इस तरह वह सदा सुहागिन, सभी प्रकार से बन ठन के अपने प्रियतम के नित्य विहार के लिये चली। मेवाड़ के सेवकों में प्रसन्नता छा गयी। उन्होंने समझा ब्राह्मण का जादू चल गया, महाराणी चित्तौड़ चलने के लिये तैयार हो गई हैं, किन्तु वे तो चितचोर के समीप जा रहीं थीं। आधा घूँघट मारकर वह मतवाली लजाती सकुचाती मन में सिहाती तथा अपने आन्तरिक भावों को छिपाती श्रीरणछोड़जी की ड्योढ़ियों पर पहुँच गई।

ब्राह्मण वहाँ कुशा बिछाकर धरना दिये पड़ा था। बाई ने कहा-"पंडितजी ! उठो हठ अच्छी नहीं होती। कुछ खा पी लो।",

ब्राह्मण ने दृढ़ता के साथ कहा—"महारानी ! जब तक आप चलेंगी नहीं मैं कुछ भी न खाऊँगा न पीऊँगा, यहीं पड़ा-पड़ा मर जाऊँगा। तुम्हारे पीछे प्राण दे दूँगा, मैं राणा साहब से प्रतिज्ञा करके आया हूँ। जीता जी जाकर अब उन्हें क्या मुँह दिखाऊँगा। या तो आपके साथ ही चलूँगा, या यहाँ अपने शरीर का अन्त ही कर दूँगा।"

बाई ने कहा—"अच्छा, मैं दर्शन तो कर आऊँ ?" बाई दर्शन करने गई। वे दर्शन अब ऐसे थे कि जिनमें पलकों का भी अब व्यवधान नहीं पड़ने वाला था। अब वे प्रियतम के साथ तदाकार होना चाहती थीं, अब वे इस वाह्य द्वैत को भी मिटाकर एक अद्वितीय बनने को छटपटा रही थीं। वे भीतर गईं, जाकर उन्होंने गद्‌गद् कण्ठ से नेत्रों में जल भरकर, रोमाञ्चित शरीर से पुलकित होकर, अधीरता के साथ, दीनता के स्वर में अपने सुललित कठ से गया—

साजन सुध ज्यूँ जाने त्यूँ लीजे हो।
तुम बिनु मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजे हो ॥
दिवस न भूख रैन नहिं निदिया यूँ तन पल-पल छीजे हो।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिल बिछुरन नहीं कीजे हो ॥

बस साजन तो उत्सुक ही थे, वे भी अपनी प्राणों से भी प्यारी प्रियतमा को पल भर पृथक् करने को उद्यत न थे।

पुजारियों ने देखा—मीरा का शरीर भगवान् के श्री विग्रह में एकदम विलीन हो गया। केवल उनकी चुनरी का छोर भगवान् के मुख में निकला हुआ रह गया। सर्वत्र हाहाकार मच गया। कोई रोने लगा, कोई पछार खाकर गिरने लगा। किन्तु

हंसा तो उड़ गया। आकाश में उसकी गति-विधि का भी पता न चला।

सेवक उस चुनरी के छोर को ही लेकर चित्तौड़ लौटे। राणा ने उसे सिर पर चढ़ाया और अपने आँसुओं से उसे भिगो दिया—

बस यही मीरा के जीवन का अन्तिम पटाक्षेप है।

परिशिष्ट

मीरा की मधुर भाव की उपासना

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरि कथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।*

जिस प्रकार प्रेम सबको प्यारा है, उसी प्रकार 'प्रेमी' भी सहृदयों को प्रिय लगता है। मीरा को हमने देखा नहीं, उससे हमारा कोई सांसारिक सम्बन्ध नहीं। फिर हम उसकी वाणी को सुनकर क्यों रो उठते हैं, उसका 'नाम' हमारे शरीर में एक प्रकार की विद्युत क्यों उत्पन्न कर देता है? इसलिये कि वह अपने गिरिधरलाल से प्यार करती थी, वह प्रेम की उपासिका थी, भगवान् की भक्ता थी, श्यामसुन्दर से उसका सम्बन्ध था। वह मधुर भाव से उनकी उपासना करती थी।

अब संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये कि यह 'मधुर भाव' क्या चीज है। पहिले भाव को ही समझिये। किसी वस्तु के देखते ही हमारा उसके प्रति कुछ-न-कुछ भाव होता है। किसी में सूक्ष्म भाव होता है, किसी में टिकाऊ। जिस वस्तु से हमारी किसी प्रकार की भी जानकारी है, उसके प्रति

---

* मैं उन महाभाग नन्दजी के व्रज की व्रजाङ्गनाओं के पाद-पद्मों की पुनीत पराग को पुन:-पुनः प्रणाम करता हूँ जिनका हरि कथा के सहित गायन तीनों लोकों को पुनीत करता है।

हमारे कुछ-न-कुछ भाव अवश्य आवेंगे। बहुत तो से ऐसे सूक्ष्म भाव आते हैं, जो इस प्रकार चले जाते हैं कि हमें स्वयं उनका पता नहीं चलता। बहुत से भाव टिकाऊ होते हैं। कुछ भाव अपने मन के अनुकूल होते हैं कुछ प्रतिकूल और कुछ ऐसे होते हैं, जो न अनुकूल होते हैं न प्रतिकूल। अपने अनुकूल से राग होता है, प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। साधारण भावों की उपेक्षा कर दी जाती है। यहाँ पर हमें अनुकूल भावों का वर्णन करना है। अपने अनुकूल भावों में श्रद्धा होने लगती है। श्रद्धा से आसक्ति या रति होती है वही रति यदि भगवत् विषय में हो तो उसी का नाम भक्ति हो जाता है। श्री मद्‌भागवत् में ऐसा ही क्रम बताया है, श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।

भक्ति को शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की बताया है। साधना भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेमाभक्ति। शास्त्रों में जो भक्ति के साधन बताये हैं, नाम संकीर्तन आदि, उनके द्वारा जो भक्ति उत्पन्न हो वह साधना भक्ति कहाती है। जो किसी अपने पराये भावों के द्वारा स्वतः उत्पन्न हो जाय वह भाव भक्ति है और उसी भाव में अत्यन्त आसक्ति होने पर उसमें अत्यन्त ममत्व हो जाने पर उसे ही प्रेमाभक्ति कहते हैं।

आसक्ति या रति ही प्रधान वस्तु है। यह आसक्ति कभी तो किसी के द्वारा उत्पन्न होती है, कभी पूर्व संस्कारों से स्वतः ही होती है। इसके भी विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव ये पाँच प्रकार के बताये हैं। 'विभाव' तो उसे कहते हैं जिसके द्वारा हम प्रेम का आस्वादन करते हैं। उसे चाहें आधार कह लीजिये। उसके भी दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन उसे कहते हैं जिसे लेकर, जिसके द्वारा

रस का आस्वादन हो। जैसे रसिक रसखान की सखी अपने आलम्बन का वर्णन कर रही है—

गोरज बिराजे भाल लहलही बनमाल,
आगे गैयाँ पीछे ग्वाल गावें मृदुतान री।
तैसी धुन मधुर मधुर बाँसुरी की तैसी,
बंक चितवनि मन्द-मन्द मुसकान री।
कदम विटप के निकट तटनी के तट,
अटा चढ़ि देखु पीत पट फहरान री।
रस बरसावै तन तपन बुझावै,
नैना प्राननि रिझावै वह आवै रस खानि री।

यह जो सामने रस बरसाता है और तन की तपनि को बुझाता हुआ आ रहा है यही रस की खानि है। रस इसी के द्वारा मिलता है यही रस का आलम्बन है। यही तो एक उपलक्षण मात्र है। श्रीकृष्ण तो स्वयं रस रूप हैं, उनके द्वारा रस का आस्वादन करना ऐसे ही है, जैसे मिश्री के द्वारा मधुरता का स्वाद चखना। असल में मिश्री और मधुरता में अन्तर ही क्या है।

उद्दीपन उसे कहते हैं, जिसके द्वारा भावों का उद्दीपन हो, या यों कहो जो हमें प्यारे की स्मृति दिला दे। जैसे बंशी बजी बस, भाव उद्दीपित हो उठा। हृदय में प्रेम हिलोरें मारने लगा। मन मयूर नृत्य करने लगा। सुनते ही नंदनंदन की स्मृति हो उठी और प्रेम की बेहोशी आ गई। उसी बेहोशी में पड़ी सखी रस का आस्वादन कर रही है। लोग समझते हैं, इसे भूत प्रेत की बाधा है, किन्तु उसे काले भूत की स्मृति ने विस्मृत बना रखा है। रसखानि की सखी के ही मुख से सुनिये।

आज अली एक गोप-लली भई बावरी नेकु न अंग सम्हारे।
खात अन्हात न देवनि पूजत, सासु सयानी सयाने पुकारै ॥
यों रसखानि घिर्‌यो सिगरो ब्रज आनि को आन उपाय विचारै।
कोउ न कान्हर के करतें वह वैरिनि बांसुरिया गहि जारै ॥

यह तो विभव हुआ, अब अनुभाव भी सुनिये। चित्त में जब प्रेम की हिलोरें उठती हैं तो अपने को सम्हाल नहीं सकते, ऐसी स्थिति में उत्पन्न होने वाले शारीरिक चिन्ह अनुभव के अन्तर्गत हैं। चित्त के भाव नाना प्रकार की चेष्टाओं द्वारा बाहर प्रकट हो जाते हैं। इनके बहुत भेद हैं। कभी नाच उठना, कभी पृथ्वी पर लेट जाना, गाना, चिल्लाना, शरीर विचित्र तरह से ऐंठना, हुँकार, जम्हाई, मुँह से फेन गिरना, जोर-जोर से हँसना और भी भाँति-भाँति की अंट-संट क्रियायें करना, सारांश प्रेम में पागल हो जाना। दूसरे लोग तो समझते हैं त्रिदोष के कारण इसकी वायु कुपित हो गई है, किन्तु जो प्रेम के पारखी हैं, जो भुक्त-भोगी हैं, जिन्हें यह रोग हो चुका है वे भाँप जाते हैं कि यह रोग असाध्य है, 'जानी हम जानी यह प्रेम की निशानी है।' रसखान की सखियों के ही द्वारा सुन लो इसकी यथार्थता की कहानी।

किसी नई आई बहू को देखा, उसे तो मिरगी-सी आ गई, आँखें पथरा गईं, मुँह से झाग बह रहे हैं पगली की तरह कभी हँसती है कभी रोती है, कभी छटपटाती है, कभी हू-हू करती है। सास, ननद सब घबड़ा गईं। जन्तर मन्तर जादू-टोना होने लगे। जो भुक्त-भोगनी थीं उन्होंने देखा, हँसी और रोग का मन ही मन निदान कर लिया—

अब हीं गई खिरक गाइके दुहाइबे को,
बावरी ह्वै आई डारि दोहनी यों पानि की।

कोऊ कहै छरी, छोऊ भौन परी डरी, कोऊ,
कोऊ कहै मेरी गति हरी अँखियानि की ॥
सास ब्रत ठानै, ननद बोलत सयाने धाइ,
दौरि दौरि जानै, मानै खोरि देवतानि की।
सखी सब हँसें मुरझानि पहिचान कहूँ,
देखी मुसकानि वा अहीर रसखानि की ॥

सात्विक भाव वे कहलाते हैं जो अपने प्रियतम के सम्बन्ध से उनकी स्मृति में, उनके दर्शन से, स्पर्श से या वियोगजन्य बेकली से शरीर में सतोगुणजनित, स्वयं ही प्रस्फुटित हो उठें। इसके भी स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु प्रलय आदि अनेक भेद हैं। हम पाठकों को इनके विस्तार में ले जाना नहीं चाहते। वे यही समझें कि प्रेम में शरीर बह निकले, बिना प्रयत्न पसीना, आँसू निकल उठें इसी तरह की अनेक क्रियायें हो जायँ जैसे श्यामसुन्दर के सामने देखते-देखते श्री जी बेहोश हो गईं, शरीर पसीने-पसीने हो उठा, सम्मुख रहते हुए भी वे वियोग का अनुभव करने लगीं। श्रीविदेहनन्दिनी राघवेन्द्र को जयमाला पहिना रही हैं, उनके मुकुटसे कर स्पर्श हो गया। बस, सम्पूर्ण शरीर स्तम्भित हो उठा।

राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा के लिये भगवान् वासुदेव को ही चुना गया तब युधिष्ठिर जी ने उनकी विधिवत् सपरिवार पूजा की। अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय देकर और नाना प्रकार के वस्त्रा-भूषण प्रदान करते-करते उनका गला भर आया। आँखों में आँसू आ गये। सामने बैठे हुए भगवान् को भी वे न देख सके। यही सात्विक भाव है—

वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः।
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥
(श्री० भा० १० स्क० ७४ अ० २८ श्लो०)

अब एक व्यभिचारी भाव है, उसे संचारी भाव भी कहते हैं। वह आगे जो स्थायी भाव है उसका संचार करता है। प्रेम की उपलब्धि में अन्तराय होने से मन में जो विषाद, दीनता, ग्लानि आदि होती है उसी भाव को व्यभिचारी कहा जाता है। इनके भी निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेश उन्माद, अपस्मार, व्याध, मोह, मृत, आलस्य आदि अनेक भेद हैं। ये भाव हृदय को द्रवीभूत बनाते हैं। हाय! मैंने कुछ भी नहीं किया, मुझे प्यारे कैसे मिलेंगे!

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
पापी कौन बड़ो है मोते सब पतितन में नामी। आदि
दिवस तो खाइ गमाइया रे, रैण गमाई सोय।
प्राण गमाया झूरता रे, नैण गँवाया रोय॥

अब पञ्चम भाव है। यही प्रेम का अन्तिम भाव है इसी के लिये सब प्रयत्न हैं अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार के भावों को वश में करके जो भाव दृढ़ स्थायी हो जाय उसी को स्थायी भाव कहते हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव ने कहा है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-मदर्शनाम्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत् प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

इस भाव में किसी का परवाह नहीं रहती। सम्राट् की तरह सभी भावों पर विजय प्राप्त करके यह भाव अपना अधिकार जमा लेता है रसखान की सखी के मुख से सुनिये—

मोर पखा मुरली बनमाल लगी हिय में हियरा उमग्यो री।
ता दिनतें निज बैरिन के कहि कौन न बोल कुबोल सह्यो री॥
अब तो रसखानि सों नेह लग्यो, कोउ कहो कोउ लाख कह्यो री।
और ते रंग रहो न रहो, एक रंग ले रँगी ने रंग रहो री॥

१४

ये तो भाव की बात हुई। अब उसी रति पर आ जाइये। हमारी किसी पर श्रद्धा है, उससे प्रेम भी हो यह आवश्यक नहीं। श्रद्धा सर्वदा गुण के अधीन होती है। वह गुण न होने से हमारी श्रद्धा भी हट जाती है या कम हो जाती है। किसी के लेख, कविता, व्याख्यान सुन पढ़कर हम उस पर श्रद्धा करने लगते हैं। जब उससे भेंट होती है और हम समझते हैं, यह प्रेमी नहीं केवल कलाकार है तो हमारी उससे श्रद्धा हट जाती है। मेरे लेख तथा ग्रन्थ पढ़कर कोई-कोई लोग मुझे ही दूर से बड़ा भक्त प्रेमी समझ लेते हैं। भेंट होने पर जब उन्हें पता चलता है कि मेरे हृदय में भक्ति की गन्ध भी नहीं तो बहुत से उदासीन हो जाते हैं। कोई-कोई घृणा भी करने लगते हैं। कभी-कभी श्रद्धा बढ़कर रति का रूप धारण कर लेती है। रति बिना सम्बन्ध के नहीं होती। हमारे पास सैकड़ों हजारों मनुष्य आते हैं, देखकर चले जाते हैं। उनसे कोई स्थायी सम्बन्ध न होने से हमारा उनसे न स्नेह बढ़ता है न उनका हमसे। जब किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध जुड़ जाय तो उनके प्रति आसक्ति हो जाती है।

संसार के सभी सम्बन्ध चार सम्बन्धों के ही अन्तर्गत है। स्वामी सेवक सम्बन्ध, मैत्री सम्बन्ध, संतान और पिता सम्बन्ध और पति-पत्नी सम्बन्ध। एक पाँचवाँ भी सम्बन्ध है जो सर्व-व्यापी निर्गुण ब्रह्म से किया जाता है, उसे परमात्मा सम्बन्ध कह लीजिये।

ये सम्बन्ध जब भगवान् के साथ हो जाते हैं तो उसे भगवत रति या भगवत् भक्ति कहते हैं। इनको 'रस' भी कहते है, क्योंकि रस रूप वे रसार्णव श्री हरि ही हैं।

पहले दास्य भक्ति को ही लें। भगवान् हमारे स्वामी हैं, हम उनके दास हैं। दास मानकर उनकी सेवा, पूजा, अर्चा करें यही दास्य भक्ति है। गोस्वामी तुलसीदास जी की ऐसी ही भक्ति है।'विनय-पत्रिका' से बढ़कर दास्य का रस और कहीं स्यात् ही मिले।

सख्य-भक्ति में हम भगवान् को अपना सखा मित्र समझते हैं। मित्र की तरह उनसे हार्दिक स्नेह करते हैं। उलटी-सीधी भी सुना देते हैं, सखा ही जो ठहरे। भीतर अगाध प्रेम है, फिर भी कभी-कभी उनसे लड़ाई-झगड़ा भी हो जाता है। इसका रसास्वाद हिन्दी साहित्य जगत् के सूर्य श्रीसूरदास जी की कविता में मिलेगा। स्थल-संकोच हमें एक भी पद उद्धृत न करने के लिये विवश करता है।

वात्सल्य-भक्ति में भगवान् को अपना पुत्र मानकर उनकी हर प्रकार से देख-रेख, टहल, चाकरी करनी पड़ती है। भगवान् भी ऐसेभले मानुष हैं कि वे उन भक्तों के लिये एकदम अबोध शिशु बन जाते हैं। यही तो उनकी भगवत्ता है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' श्रीमद्वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टिमार्गीय में प्रकट रूप से यही उपासना है। वहाँ भगवान् के श्रीविग्रह बहुत ही छोटे-छोटे होते हैं और बालक की भाँति ही उन्हें लाड़ लड़ाया जाता है। उसी तरह की सेवा पूजा है।

भगवान् को निर्गुण ब्रह्म मानकर शांत भाव से जो उपासना की जाती है, उसे शांत रस या शान्त रति कहते हैं वैराग्यवान् ब्रह्मज्ञानी विरक्त भगवान् की इसी भाव से उपासना करते हैं। शुक सनकादि इसी भाव में परिनिष्ठित थे। शुकदेवजी ने स्वयं कहा है—

परि निष्ठतोऽमिनैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीत चेता राजर्षे आख्यानमितधीतवान्॥

अब मधुर रस की बात सुनिये। भगवान् हमारे पति हैं और हम उनकी दासी हैं, किंकरी हैं, सखी है, सहेली हैं गोपी हैं, कान्ता हैं। इस भाव को लेकर और श्री भगवान् को ही प्रियतम, स्वामी मानकर उनके साथ वैसा ही सम्बन्ध रखना यह मधुर उपासना या कान्ता भाव की उपासना है। वैसे तो सभी सम्प्रदाय के वैष्णवों में इसे किसी-न-किसी भाँति माना गया है, किन्तु व्रज में गौड़ीय सम्प्रदाय, श्री निम्बार्क सम्प्रदाय और श्री राधाबल्लभीय सम्प्रदाय इन तीनों में तो बस, यही उपासना है। गौड़ीय सम्प्रदाय के इस विषय के संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थ हैं। इसका सूत्र-पात्र तो व्रज में ही हुआ है–सूत्र-पात से मेरा अभिप्राय इस युग के प्रचार से है। वह उन बङ्गालियों द्वारा ही हुआ है, व्रज में वास करते थे। इस विषय के श्री रूप सनातन, जीव आदि गोस्वामियों ने बहुत ग्रन्थ लिखे हैं। निम्बार्कीय सम्प्रदाय के रसिक महानुभावों ने इस विषय की वाणियाँ व्रजभाषा में लिखी है। इसी तरह श्रीराधाबल्लभीय सम्प्रदाय के रसिकों ने भी व्रजभाषा में बड़े ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें हजारों नहीं लाखों पद हैं। वे सब अप्रकाशित हैं, इन रसिक महानुभावों की शपथ पूर्वक आज्ञा है कि यह रस सर्व साधारण में प्रकाशित ना किया जाय। बात ठीक भी है सब लोग इस रस के अधिकारी भी नहीं। यह तो बहुत बड़ा प्रसङ्ग है, अवसर मिलने पर इसकी कभी स्वतन्त्र चर्चा करेंगे।

यहाँ कहने का मेरा इतना ही अभिप्राय है कि मीरा मधुर

भाव की उपासिका थी। वह श्यामसुन्दर को अपना पति मानती थी। उसी भाव से उसने उन्हें प्राप्त किया और उसी सम्बन्ध को लेकर उसके साथ रसास्वादन किया। यह विषय तो बड़ा गूढ़ है। फिर मनुष्य तो इसे समझ नहीं सकता, समझने की चीज भी नहीं, यह तो अनुभव की चीज है, गूँगे का गुड़ है। फिर भी प्रसङ्ग को समझने के लिये मधुर भाव की सामान्य बातें जान लेना आवश्यक है।

पीछे हम संक्षेप में भावों का वर्णन कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर ये पाँच प्रकार की भक्ति या रति है। इन सबमें आलम्बन. रति, उद्दीपन, अनुभव, सात्विक भाव, व्यभिचारी, स्थायी ये सब होते हैं।

मधुर भाव की अभिव्यक्ति सम्बन्ध से भी होती है और स्वतः स्वाभाविक भी होती है। अपने आप ही प्रकट होती है। मीरा में यह स्वाभाविक थी। वैसे माता ने बहाने से सम्बन्ध कराया था। किन्तु वह एक उपलक्ष्य बन गया। यथार्थ में तो वह जन्म-जन्मान्तर में श्रीकृष्ण की प्रेयसी रही है। जैसा की उसने अपने पदों में बार-बार दुहराया है—

मीरा दासी जनम-जनम की पड़ी तुम्हारे पाँय।

मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिनु पल न रहाऊँ।

मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे जनम-जनम के साथी।

इस मधुर रस के आलम्बन श्रीकृष्ण हैं या उनकी जो प्रियतमा हैं। क्योंकि यह रस उनके साथ मिलकर ही आस्वादन किया जाता है।

इसलिये मीरा ने गाया है—

मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥

आलम्बन के अन्तर है रति। इस मधुर भाव में साधक सर्वस्व त्यागकर एकमात्र उनके ही अधीन हो जाता है। किसी की परवाह नहीं करता। मीरा के पदों में सर्वोत्कृष्ट रति के कई पद हैं, जैसे—

मैं तो गिरिधर के रंग राती।

पीहर बसूँ सास घर सतगुरु संग रहाती।
मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ।
जो पहिनावे सोई पहिनूँ जो दे सोई खाऊँ।
जित बैठावे तित ही बैठूँ बेचे तो बिक जाऊँ॥

इस मधुर रस भावों को उद्दीप्त करने वाले उद्दीपन मुरली, वृन्दावन आदि मुरली की धुनि सुनते ही मन वश में नहीं रहता इसलिये मीरा ने गाया है—

भई हौं बावरी सुनिके बाँसुरी।

स्रवन सुनत मोरी सुधि बुधि बिसरी।
लगी रहत तामें मन की बाँसुरी॥
नैन धरम कौन कीनी मुरलिया कौन तुम्हारे पासरी।
मीरा के प्रभु बश कर लीने सदा सुरन ताननि की फाँसुरी॥

मधुर रस में प्यारे की चेष्टायें हैं वे ही अनुभव कहलाती हैं। मीरा गाया है—

जब ते मोइ नन्दन दृष्टि परयो री माई।
तब से परलोक लोक कछु ना सुहाई॥

सात्विक भाव तो हम पीछे बता ही आये हैं, शरीर का

पुलकित हो जाना, प्रेम से नेत्रों में जल भर आना, वाणी का गद्गद हो जाना, देह में कँपकँपी होना ये ही मधुर रस में सात्विक भाव हैं—मीरा ने पदों में ऐसे भाव व्यक्त किये हैं—

स्थायी भाव इस मधुर रति में माधुर्य ही है। मीरा के पदों में यह तो कूट-कूट कर भरा है—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मन लागी कटारी प्रेमनी रे।
जल जमुना माँ भरवा गया ताँ हती गागर माथे हेमनी रे॥
काँचे ते ताँत ने हरि जी बाँधे जुभ चे जेते तेमनी रे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर साँवली सुरत शुभ एमनी रे॥

इस स्थायी भाव के विप्रलम्भ और संभोग दो भेद बताये हैं। सम्भोगरति के बढ़ाने के पूर्व का ही नाम विप्रलम्ब है। इससे सम्भोग का रस-वार्धक्य होता है। जैसे किसी छोटे शिशु को हम गोदी में लेकर प्यार करना चाहते हैं। वह भागता है चंचलता करता है, समीप आकर भाग जाता है। इससे उत्कंठा बढ़ती है और प्रेम-रसास्वाद में वृद्धि होती है। इसके पूर्व राग, मान, प्रवास आदि अनेक भेद हैं। मीरा के पदों में इसी भाव को अधिकता से दरशाया है।

रमैया बिनु नींद न आवे।
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आँच ढुलावै॥
बिन पिया जोत मन्दिर अँधियारो, दीमक दाय न आवै।
बिन पिया मेरी सेज अलूणी, जागत रैन विहावै॥
दादुर मोर पपिहरा बोले, कोयल शब्द सुणावै।
पिया कबरे घर आवै॥ रमैया०

घुमड़ घटा ऊलर होय आई, दामिनि दमकि डरावै ।
नैन झर लावै ॥ रमैया०
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, वैद ने कुण बुलावै ।
विरह नाग ने मेरी काया डसी है, लहर लहर जिजावै ॥
जड़ी घसलावै ॥ रमैया०
को है सखा सनेही सजनी, पियाकूँ आन मिलावै ।
मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे, मनमोहन मोहि भावै ॥
कबै हँसकर बतलावै ॥ रमैया०

इस मधुर रस में अन्तिम रसास्वाद है—सम्भोग ।

मीरा के पदों में जगह-जगह इसकी अभिव्यक्ति है और वह इतने कौशल से वर्णन किया गया है कि अत्यन्त स्वाभाविक हो गया है । इस विषय में महाकवि जयदेव ने जो वर्णन किया है वह दर्शनीय है तथा ब्रज के रसकों ने इसी विषय के लाखों पद लिखे हैं—हाँ तो कविता-कामिनी-कान्त जयदेव की भी बानगी देखिये—

दोर्भ्यां संयमित पयोधर भरेणापीड़ितः पाणिजै—
रविद्धो दशनैः क्षताधर पुटः श्रोणी तटेनासतः ॥
हस्तेना नमितः कचेऽधर मधु स्यन्दन सम्मोहितः ।
कान्तः कामपि तृप्तिमापत दहो कामस्य बामागतिः ॥

बस, जी मधुर रस की यही पराकाष्ठा है । इसके आगे कहने सुनने की बात कुछ भी नहीं है । मीरा ने भाव में नहीं प्रत्यक्ष अपने श्यामसुन्दर गिरिधर नागर के साथ इस साररति-सार रसका आस्वादन किया था ।

॥ श्रीहरिः ॥

पूज्यपाद श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज कृत "भागवती कथा" "भागवत चरित" तथा अन्यान्य दिव्य ग्रन्थों की

संक्षिप्त-सूची

श्री पूज्यपाद ब्रह्मचारीजी महाराज लिखित धार्मिक अनुपम ग्रन्थों से प्रायः सभी हिन्दी भाषा-भाषी धर्मप्राण पाठक पूर्णरीत्या परिचित हैं। श्री महाराजजी द्वारा लिखित श्री चैतन्य-चरितावली भारत में ही नहीं विश्व के साहित्य में अनुपम ग्रन्थ है। गुजराती, मराठी, तेलगु, तामिल, मलयालम तथा देश की अन्यान्य भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी लिखी भागवती कथा हिन्दी साहित्य में बेजोड़ ग्रन्थ है। इसे हिन्दी भाषा का समस्त धार्मिक कोश कहना चाहिये। संस्कृत साहित्य में गीता, उपनिषदें और ब्रह्मसूत्र इन तीनों को प्रस्थानत्रयी कहते हैं। महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी इनमें श्रीमद्भागवत को भी और सम्मिलित करके प्रस्थान चतुष्टयी बताते हैं। भागवती कथा में इन चारों की ही विस्तृत सरस-सरल सर्वोपयोगी व्याख्यायें हैं। इन सबका संक्षिप्त परिचय पढ़िये—

१. भागवती कथा—यह एक विस्तृत वृहद् ग्रन्थ है। अब तक इसके ११८ खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रत्येक खण्ड दो सौ–ढाई सौ पृष्ठ का होता है, सादे तथा रंगीन चित्र भी रहते हैं। प्रत्येक खण्ड का इस मँहगाई काल में भी केवल ३ रुपया न्यौछावर है। डाक-व्यय पृथक्। भागवती कथा के प्रथम ६० खण्डों में तो भगवत् सम्बन्धी सरस-सरल सुमधुर कथायें हैं।

प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में एक श्रीमद्‌भागवत का छँटा श्लोक होता है, उसी भाव का ब्रजभाषा का छप्पय, फिर उस अध्याय की भूमिका तदनन्तर विषय विवेचन, एक-दो दृष्टान्त की कहानियाँ, उपसंहार और फिर अन्त में छप्पय। यह क्रम आदि से अन्त तक यथावत् है। प्रत्येक अध्याय एक प्रकार से स्वतन्त्र है। केवल छप्पयों को ही पढ़ते जाओ तो पूरा विषय आ जायगा। ६० भागों में तो कथा भाग है, दो भागों में माहात्म्य और ६ भागों में भागवती स्तुतियाँ हैं। इस प्रकार ६८ भागों में भागवत् विवेचन है। सोलह भागों में गीता की सरल-सुगम व्याख्या है। प्रत्येक अध्याय में दो श्लोकों की व्याख्या है, फिर २३ भागों में १९१ उपनिषदों का विवेचन है। आज तक सभी आचार्यों ने दश उपनिषदों के ही सम्बन्ध में लिखा है। १९१ उपनिषदों का विवेचन संसार की किसी भाषा में आज तक नहीं है। हिन्दी भाषा में यह प्रथम प्रयास है। १०७ वें भाग में दर्शनों का संक्षिप्त परिचय और १०८ वें भाग से ११८ वें भाग तक ब्रह्मसूत्रों पर विवेचन है।

इस प्रकार भागवती कथा समस्त आर्य वैदिक सनातन वर्णाश्रम धर्म का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा इतनी सरल-सुगम सुबोध है कि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, पठित-अपठित सभी सरलता से समझ सकते हैं। देश के कोने-कोने में सहस्रों स्थानों पर इसकी नित्य नियमित कथायें होती हैं। जिनसे नित्य लाखों स्त्री-पुरुष लाभ उठाते हैं। प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक घर में भागवती कथा रहने से धार्मिक वातावरण बन जाता है।

उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बहुत-सी जिला परिषदों के पुस्तकालयों के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत है। ३५ रुपया भेजकर स्थायी ग्राहक बनें। वर्ष के १२ खण्ड आपको घर बैठे रजिस्ट्री से मिल जाया करेंगे।

विद्वानों, नेताओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हमारा बड़ा सूची-पत्र बिना मूल्य मँगाकर बहुत से विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़ें। यह ग्रन्थ किसी का अक्षरशः अनुवाद नहीं स्वतन्त्र विवेचन है।

२. भागवत चरित सप्ताह (पद्यों में)—यह भागवत का सप्ताह है। छप्पय छन्दों में लिखा है। सैकड़ों सादे चित्र ५-६ बहुरंगे चित्र हैं कपड़े की सुन्दर जिल्द है, लगभग हजार पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ११ रु०।

३. भागवत चरित (सटीक दो भागों में)—अनुवादक—पं० रामानुज पाण्डेय, बी० ए० विशारद 'भागवत चरित व्यास' भागवत चरित की सरल हिन्दी में सुन्दर टीका है, प्रत्येक खण्ड में ९०० पृष्ठ हैं, मूल्य ४२ रुपया। एक खण्ड का २१ रुपया।

४. बद्रीनाथ दर्शन—श्री बद्रीनाथ दर्शन यात्रा पर यह बड़ा ही खोजपूर्ण ग्रंथ है। बद्रीनाथ यात्रा की सभी आवश्यक बातों का तथा समस्त उत्तराखण्ड के तीर्थों का इसमें वर्णन है। लगभग सवा चार सौ पृष्ठों की सजिल्द सचित्र पुस्तक का मूल्य ६ रुपया भारत सरकार द्वारा अहिन्दी प्रान्तों के लिये स्वीकृत है।

५. महात्मा कर्ण—महाभारत के प्राण महात्मा कर्ण का यह अत्यन्त ही रोचक, शिक्षाप्रद तथा आलोचनात्मक जीवन-चरित्र है। ३४० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ५ रुपया।

६. मतवाली मीरा—मीराबाई के दिव्य जीवन की सजीव झाँकी तथा उनके पदों की रोचक भाषा में व्याख्या। २२४ पृष्ठ की सचित्र पुस्तक का मू० ४ रु० है। यह इसका सातवाँ संस्करण है।

७. नाम संकीर्तन महिमा—नाम संकीर्तन महिमा के ऊपर

जितनी भी शङ्कायें उठ सकती हैं उनका शास्त्रीय ढङ्ग से युक्तियुक्त विवेचन है। मूल्य १ रुपया।

८. श्रीशुक (नाटक)—श्रीशुकदेव मुनि के जीवन की दिव्य झाँकी। पृष्ठ सं० १००, मूल्य १ रुपया।

९. भागवती कथा की बानगी—भागवती कथा के खण्डों के कुछ अध्याय बानगी के रूप में इसमें दिये गये हैं। इसे पढ़कर आप भागवती कथा की शैली समझ सकेंगे। पृ० १०० मू० ५० पैसे।

१०. शोक शान्ति—अपने प्रिय स्वजनों के परलोक प्रयाण पर सान्त्वना देने वाला मार्मिक पत्र। शोक सन्तप्तों की सञ्जीवनी बूटी है। पृष्ठ ६४, मूल्य ५० पैसे। षष्टम् संस्करण।

११. मेरे महामना मालवीयजी—महामना मालवीय जी के सुखद संस्मरण। १३५ पृष्ठ की छोटी पुस्तक, मूल्य ५० पैसे।

१२. भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दु पुनः हिन्दु बन सकते हैं, इस प्रश्न का शास्त्रीय ढङ्ग से प्रमाणों सहित विवेचन बड़ी ही मार्मिक भाषा में किया गया है, वर्तमान समय में जब विधर्मी अपनी संख्या बढ़ा रहे हैं यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। पृष्ठ ७६ मूल्य ५० पैसे।

१३. प्रयाग माहात्म्य—तीर्थराज प्रयाग के माहात्म्य पर ३२ पृष्ठ की छोटी-सी पुस्तिका। मूल्य ५० पैसे।

१४. वृन्दावन माहात्म्य—श्रीवृन्दावन के माहात्म्य पर लघु पुस्तिका। मूल्य २५ पैसे।

१५. राघवेन्दु चरित—(छप्पय छन्दों में)—श्रीरामचन्द्रजी की कथा के ९ अध्याय भागवत चरित से पृथक् छापे हैं। राम-

भक्तों को नित्य पाठ के लिये उपयोगी है। पृष्ठ सं १६० मूल्य ६० पैसे, अर्थ सहित ३ रुपया।

१६. प्रभुपूजा पद्धति—भगवान् की पूजा करने की सरल सुगम शास्त्रीय विधि इसमें श्लोकों सहित बताई है। श्लोकों का भाव दोहाओं में भी वर्णित है। मूल्य ५० पैसे।

१७. श्री श्रीचैतन्य-चरितावली—

- प्रथम खण्ड—पृष्ठ २६४, तिरंगे ६ चित्र, मूल्य ४.५० पैसे। सजिल्द ४.५० पैसे।
- दूसरा खण्ड—पृष्ठ ३०३, तिरंगे ४ चित्र, मूल्य ४.५० पैसे। सजिल्द ४.५० पैसे।
- तीसरा खण्ड—पृष्ठ ३८४ तिरंगे ७ चित्र, मूल्य ४.५० पैसे। सजिल्द ४.५० पैसे।
- चौथा खण्ड—पृष्ठ २३४, तिरंगे ५ चित्र, मूल्य ४.०० सजिल्द ४ रुपया।
- पाँचवाँ खण्ड—पृष्ठ २८८, तिरंगे ४ चित्र, मूल्य ४.५० सजिल्द ४.५० पैसे।

पाँचों खण्डों का मूल्य २२ रु०, सजिल्द २७ रु०। डाक व्यय सभी का पृथक। पहिले श्रीचैतन्य-चरितावली गीताप्रेस गोरख-पुर से छापी थी। अब पाँचों खण्ड हमारे यहाँ छपकर तैयार हैं।

१८. भागवत चरित की बानगी—इससे भागवत चरित के पद्यों की सरसता जान सकेंगे। पृष्ठ १०० मूल्य ७५ पैसे।

१९. गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) दोनों स्तोत्र हैं। मूल स्तोत्र भी दिये हैं। मूल्य १ रुपया।

२०. श्रीकृष्ण चरित—भागवत चरित से यह पद्यों में श्रीकृष्ण चरित पृथक् छापा गया है। पृष्ठ सं० ३५० मू० ५ रु०।

२१. **गोपालन शिक्षा**—गौ कैसे पालनी चाहिये। गौओं की कितनी जाति हैं, उन्हें कैसे आहार देना चाहिये। बीमार होने पर कैसे चिकित्सा की जाय। कौन-कौन देशी दवाएँ दी जायँ, इन सब बातों का इसमें विशद् वर्णन है। पृष्ठ २०४ मू० ३ रु०।

२२. **मुक्तिनाथ दर्शन**—नैपाल में सुप्रसिद्ध मुक्तिनाथ तीर्थ है। यात्रा का वहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन है। नैपाल राज्य तथा नैपाल के समस्त तीर्थों का इसमें विशद वर्णन है, मू० ३ रुपया।

२३. **आलवन्दार स्तोत्र मूल तथा छप्पय छन्दों में**—अनूदित श्री वैष्णव सम्प्रदाय के महामुनीन्द्र श्रीमत् यामुनाचार्य कृत यह स्तोत्र सर्वमान्य तथा बहुत प्रसिद्ध है। ५ बार में १६५०० प्रतियाँ छपी हैं। मूल्य १ रुपया।

२४. **रास पंचाध्यायी**—भागवत चरित से रास पंचाध्यायी पृथक् छापी गई है। मूल्य १ रुपया।

२५. **गोपी गीत**—श्रीमद्भागवत के गोपी गीत का उन्हीं छन्दों में व्रजभाषा अनुवाद है। बिना मूल्य वितरित की जाती है।

२६. **श्रीप्रभु पदावली**—श्रीब्रह्मचारीजी के स्फुट पदों का सुन्दर संग्रह है। पृष्ठ सं० १२२, मूल्य १ रुपया ५० पैसे।

२७. **परम साहसी बालक ध्रुव**—१०० पृष्ठ की पुस्तक मूल्य १ रुपया।

२८. **सार्थ छप्पय गीता**—गीता के श्लोक एक ओर मूल और अर्थ सहित छापे हैं। उनके सामने अर्थ की छप्पय है। सचित्र मूल्य ४ रु०।

२९. **हनुमत् शतक**—नित्य पाठ करने योग्य यह पुस्तक

बहुत ही सुन्दर है। इसमें १०८ छप्पय हैं, सुन्दर हनुमान्‌जी का एक बहुरङ्गा तथा २१ सादे चित्र हैं। मूल्य १ रुपया।

३०. महावीर हनुमान्—श्री ब्रह्मचारीजी महाराज ने श्री हनुमान्‌जी का यह विस्तृत जीवन-चरित्र भागवती कथा की भाँति लिखा है, इसमें २१ अध्याय हैं। पृष्ठ सं० २०६ मूल्य ३ रुपया।

३१. भक्त-चरितावली [दो भागों में]—यदि आप चाहते हैं कि हम भी प्रभु के भक्तों की गाथा पढ़कर, भक्ति में आत्मविभोर होकर प्रभु की दिव्य झाँकी की झलक का दर्शन करें तो आज ही भक्त-चरितावली के दोनों भाग मँगाकर पढ़े। भाग (१) पृष्ठ ४४४ मूल्य ४ रु० ५० पैसे। भाग (२) पृष्ठ ३०३ मूल्य ३ रुपया।

३२. छप्पय भर्तृहरि शतकत्रय—श्री भर्तृहरि के नीति, शृङ्गार और वैराग्य तीनों शतकों का छप्पय छन्दों मे भाव अनुवाद। पुस्तक बहुत ओजस्वी कविता में है। मू० २ रु० ५० पैसे।

३३. श्री सत्यनारायण व्रत कथा (माहात्म्य)—छप्पय छन्दों में श्लोक सहित साथ ही पूजा पद्धति भी संक्षेप में दी गई है। मू० १ रुपया।

३४. छप्पय विष्णु सहस्रनाम तथा दोहा—भाष्य सहित सहस्र नामों के सहस्र दोहे। मूल्य १ रु० ५० पैसे।

३५. भागवत चरित सङ्गीत सुधा—(स्वरकार पं० बंशीधर शर्मा 'भागवत चरित व्यास') भागवत चरित के छप्पय छन्दों को तथा पद स्तुतियों को संगीत के स्वरों में विविध रागों में लिपिबद्ध किया गया है। मूल्य १ रुपया ५० पैसे।

३६. सूक्त-त्रय (सार्थ छप्पय सहित—(१) पुरुष-सूक्त (२) श्रीसूक्त और (३) लक्ष्मीसूक्त, भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणजी के मनोहर चित्र के साथ न्यौछावर १) रुपया।